दैनिक

जयपुर,सीकर, झुंझुनूं, चुरू,नागौर एवं अलवर से एक साथ प्रकाशित

जयपुर टाइम्स

नई सोच नई रफ्तार

वर्ष : 10 अंक : 177 ■ डाक पंजीयन संख्या : जयपुर सिटी / 007/2017-19 जयपुर, रविवार 20 जुलाई, 2025 ■ RNI.No.RAJHIN/2016/70162 ■ मूल्य : 1.50 रुपए ■ पृष्ठ : 8+2

बांधों के निर्माण के लिए राज्य की हिस्सेदारी से 95 करोड़ रुपए स्वीकृत

सुखद ख़बर : शेखावाटी अंचल को मिलेगा यमुना का जल

मुख्यमंत्री भजनलाल का निर्णय दूरगामी होगा साबित

जयपुर टाइम्स

जयपुर(कासं.)। राजस्थान के शेखावाटी क्षेत्र को पेयजल और सिंचाई के लिए पर्याप्त जल उपलब्ध कराना राज्य सरकार की सर्वोच्च प्राथमिकताओं में शामिल है। मुख्यमंत्री भजनलाल शर्मा के दृढ़ नेतृत्व में यमुना जल समझौते के अंतर्गत प्रतिबद्धता से मिशन मोड पर कार्य किए जा रहे हैं। शर्मा के इस ऐतिहासिक निर्णय से शेखावाटी अंचल में जल संकट का स्थायी समाधान संभव हो सकेगा। मुख्यमंत्री शर्मा ने यमुना बेसिन के ऊपरी भाग में स्थित रेणुकाजी (हिमाचल प्रदेश) व लखवार बांध (उत्तराखण्ड) के निर्माण कार्यों के लिए राज्य की हिस्सा राशि में से 95 करोड़ रुपये स्वीकृत किए हैं। इससे निर्माण कार्यों को गति मिलेगी और तय समय सीमा में प्रदेश में जलापूर्ति सुनिश्चित हो सकेगी। बांधों के निर्माण से राज्य के हिस्से का जल वर्ष पर्यन्त उपलब्ध हो सकेगा। मुख्यमंत्री शर्मा ने कहा कि जल संसाधनों की महत्ता को ध्यान में रखते हुए दृढ़ संकल्प और दूरदर्शिता से राज्य में जल परियोजनाओं को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जा रही है। यमुना जल परियोजना चूरू, सीकर, झुंझुनूं सहित अन्य क्षेत्रों के लिए वरदान साबित होगी। इससे पेयजल और सिंचाई की स्थायी सुविधा सुनिश्चित होगी।

राज्य की हिस्सेदारी 215 करोड़ रुपए

उल्लेखनीय है कि यमुना नदी के जलग्रहण क्षेत्र में हिमाचल प्रदेश और उत्तराखंड में तीन प्रमुख बांधों का निर्माण कराया जा रहा है। इनमें से वर्तमान में लखवार और रेणुकाजी बांधों का निर्माण कार्य प्रगति पर है। यमुना रिवर बोर्ड की ओर से इन परियोजनाओं की कुल लागत 11,320.46 करोड़ रुपए निर्धारित की गई है, जिसमें राजस्थान की हिस्सेदारी 215.66 करोड़ रुपए है। मुख्यमंत्री शर्मा ने बोर्ड की मांग को ध्यान में रखते हुए 95 करोड़ रुपये राशि की स्वीकृति प्रदान कर राज्य की सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित की है।

जून में हुई टास्क फोर्स की बैठक

हथिनीकुंड बैराज से राज्य में जलापूर्ति सुनिश्चित करने के लिए गठित टास्क फोर्स की तीसरी बैठक 30 जून 2025 को पंचकूला में हुई थी। इसमें राजस्थान और हरियाणा के अधिकारियों के बीच विभिन्न विषयों पर विस्तृत चर्चा की गई। मुख्यमंत्री के निर्देशानुसार राज्य सरकार की ओर से इस परियोजना के कार्यों की सतत् निगरानी की जा रही है। मुख्यमंत्री शर्मा के कुशल नेतृत्व में यह निर्णय प्रदेश में जल सुरक्षा सुनिश्चित करने में मील का पत्थर साबित होगा। उल्लेखनीय है कि वर्तमान सरकार के गठन के तुरंत बाद प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के मार्गदर्शन में मुख्यमंत्री शर्मा ने शेखावाटी क्षेत्र में यमुना जल को लाने के लिए हरियाणा सरकार से एमओयू किया था।

पाकिस्तान या बांग्लादेश में होता तो शरणार्थी होता, भारत सबसे सुरक्षित : किरेन रिजूजू

जयपुर टाइम्स

नई दिल्ली। केंद्रीय मंत्री किरेन रिजिजू ने कहा कि भारत में अल्पसंख्यकों को जो स्वतंत्रता और सुरक्षा मिल रही है, वह बहुसंख्यक समाज की सहिष्णुता की वजह से है। उन्होंने कहा कि मैं खुद एक अल्पसंख्यक हूं। अगर पाकिस्तान या बांग्लादेश में होता, तो शायद आज शरणार्थी होता। इसके साथ ही रिजिजू ने इस मामले में कांग्रेस पर गलत प्रचार करने का आरोप भी लगाया। केंद्रीय अल्पसंख्यक कार्य मंत्री किरेन रिजिजू ने भारत में अल्पसंख्यकों की स्थिति और उनकी सुरक्षा की बात पर जोर दिया। उन्होंने कहा कि भारत एक धर्मनिरपेक्ष देश है और यहां अल्पसंख्यक पूरी तरह सुरक्षित हैं। उन्होंने कहा कि मैं खुद एक अल्पसंख्यक हूं। अगर हम पाकिस्तान या बांग्लादेश में होते, तो शायद आज शरणार्थी होते। लेकिन भारत में हर अल्पसंख्यक और आदिवासी अपने ही देश में सुरक्षित है, क्योंकि यहां की बहुसंख्यक हिंदू आबादी स्वभाव से सहिष्णु और धर्मनिरपेक्ष है रिजिजू ने कहा कि भारत में अल्पसंख्यकों को जो स्वतंत्रता और सुरक्षा मिल रही है, वह यहां की बहुसंख्यक आबादी के कारण है। उन्होंने कहा कि मैंने अब तक एक भी ऐसा मामला नहीं देखा जिसमें किसी अल्पसंख्यक ने यह कहा हो कि उसे भारत छोड़ना है क्योंकि उसे यहां कुछ नहीं मिल रहा। रिजिजू ने अपने बयान में कांग्रेस पर गलत प्रचार करने का आरोप भी लगाया। उन्होंने कहा कि कांग्रेस समर्थित वामपंथी सोच वाले लोग यह लगातार प्रचार कर रहे हैं कि भारत में अल्पसंख्यकों पर अत्याचार हो रहा है। रिजिजू ने कहा कि ऐसा नैरेटिव देश के लिए नुकसानदायक है। इसके साथ ही रिजिजू ने पूर्व मंत्री मुख्तार अब्बास नकवी के भारत अल्पसंख्यकों के लिए स्वर्ग है वाले बयान पर कहा कि भारत एक कानून का पालन करने वाला, धर्मनिरपेक्ष और संविधान आधारित देश है, जहां बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक दोनों कानून की नजर में बराबर हैं। रिजिजू ने कहा कि जो सुविधाएं बहुसंख्यक समुदाय को मिलती हैं, वे अल्पसंख्यकों को भी मिलती हैं, लेकिन कुछ योजनाएं ऐसी भी हैं जो केवल अल्पसंख्यकों के लिए होती हैं। उन्होंने बताया कि मंत्रालय की सभी योजनाएं पूरे देश में लागू होती हैं और छह मान्यता प्राप्त अल्पसंख्यक समुदायों के लिए विशेष सहायता भी दी जाती है। रिजिजू ने कहा कि चीन, म्यांमार, श्रीलंका, बांग्लादेश और पाकिस्तान से लोग भारत में इसलिए आते हैं क्योंकि उन्हें भारत के संविधान और यहां के लोगों पर भरोसा है।

भजन लाल सरकार ने किए पूर्ववर्ती सरकार की ओर से आरआईसी मैनेजमेंट को दिए आजीवन अधिकार खत्म

जयपुर टाइम्स

जयपुर(कासं.)। राजस्थान इंटरनेशनल सेंटर के मैनेजमेंट के लिए पूर्व मुख्यमंत्री अशोक गहलोत की सरकार में बनाए आजीवन ट्रस्टियों के अधिकारों को भजनलाल सरकार ने खत्म कर दिया। गहलोत सरकार के समय इस सेंटर के प्रबंध संचालन के लिए एक सोसायटी बनाई थी, जिसमें गहलोत के पूर्व आर्थिक सलाहकार अरविंद मायाराम को अध्यक्ष नियुक्त करते हुए आजीवन ट्रस्टी बनाया था। इनके अलावा डॉ. प्रभात भानू मेहता, के.सी. मालू, नारायण बारेठ और मोहम्मद यासिन को इस मैनेजमेंट बोर्ड में सदस्य बनाते हुए इन्हें भी आजीवन ट्रस्टी बनाया था। अब इन ट्रस्टियों के मैनेजमेंट बोर्ड को खत्म करते हुए राजस्थान इंटरनेशनल सेंटर (जयपुर सोसायटी) को एक ऑटोनोमस बॉडी (स्वायत्तशासी संस्था) बनाकर इसके प्रबंधन के लिए नई गवर्निंग बॉडी का गठन किया है। साथ ही इसका संचालन करने के लिए जल्द नई कार्यकारी समिति बनाई जाएगी, जो 5 सदस्यों की होगी। इस सोसायटी की 15 सदस्यों की गर्वनिंग बॉडी बनाई है, जिसमें अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के अलावा 4 अन्य सदस्य सरकारी हैं। इस बॉडी का अध्यक्ष मुख्य सचिव को बनाया है, जबकि उपाध्यक्ष यूडीएच डिपार्टमेंट का अतिरिक्त मुख्य सचिव या प्रमुख शासन सचिव को बनाया। इनके अलावा कला संस्कृति विभाग के शासन सचिव, जयपुर जेडीए के कमिश्नर, नगर निगम ग्रेटर के कमिश्नर और जयपुर कलेक्टर को सदस्य बनाया है। अन्य 6 सदस्य राज्य सरकार के जरिए नामित किए जाएंगे, जो प्रशासनिक, उद्योग क्षेत्र के अलावा चार्टेड अकाउंटेंट, विधि क्षेत्र, पर्यटन क्षेत्र और कला एवं संस्कृति क्षेत्र से होंगे। इन नामित 6 सदस्यों का कार्यकाल 2 साल का होगा। गवर्निंग बॉडी में ही 2 अन्य सदस्य आरआईसी

के सदस्यों में से ही निर्वाचित किए जाएंगे। एक अन्य सदस्य आरआईसी का निदेशक होगा। आरआईसी का निदेशक राज्य सरकार नियुक्त करेगी और ये गवर्निंग बॉडी का संयोजक भी होगा। आरआईसी में सेमिनार, वर्कशॉप, मीटिंग समेत अन्य कार्यों के लिए कॉन्फ्रेंस हॉल बने हैं। आरआईसी में सेमिनार, वर्कशॉप, मीटिंग समेत अन्य कार्यों के लिए कॉन्फ्रेंस हॉल बने हैं। आरआईसी सोसायटी की कार्यकारी समिति भी 5 सदस्यों की होगी। इसका अध्यक्ष राज्य सरकार से नामित 6 सदस्यों में से एक होगा। जबकि एक अन्य सदस्य भी इन्हीं 6 नामित में से चुना जाएगा। एक सदस्य गवर्निंग बॉडी के निर्वाचित 2 सदस्यों में से किसी एक को बनाया जाएगा। एक सदस्य आरआईसी का निदेशक होगा, जबकि एक सदस्य जेडीए सचिव को बनाया जाएगा। इस कार्यकारी समिति की बैठक 2 माह में कम से कम एक बार होगी। इसका मुख्य कार्य आरआईसी में मौजूद सुविधाएं जैसे रेस्टोरेंट, कैफेटेरिया आदि को लीज पर देना, ऑडिटोरियम, सेमिनार हॉल आदि के दरों का निर्धारण करना, आरआईसी सेंटर के संचालन के लिए कॉन्ट्रेक्ट पर कर्मचारियों की हायरिंग करना और आरआईसी सेंटर के संचालन के लिए जरूरी चीजों की खरीद करना है।

गाजा में खाद्य वितरण केंद्र पर गोली बारी, 50 फलस्तीनियो की मौत

जयपुर टाइम्स

दीर अल-बलाह। गाजा में मानवीय संकट हर दिन के साथ गहराता जा रहा है, इसके साथ ही वहां हर दिन भूख, डर और मौत का नया किस्सा बन रहा है। गाजा में 20 लाख से ज्यादा लोग हैं जो भूख, बीमारी और बेघरी से जूझ रहे हैं। भोजन वितरण केंद्रों पर अक्सर अराजकता देखी जाती है। वहीं इस्राइल और हमास समर्थित संगठन एक-दूसरे पर आरोप लगाते हैं। गाजा पट्टी के दक्षिणी हिस्से में शनिवार को 50 से ज्यादा फलस्तीनी मारे गए हैं। स्थानीय अधिकारियों के अनुसार ये सभी खाने के पैकेट के लिए जा रहे थे। वहीं अस्पताल के अधिकारियों के अनुसार, इस्राइली सेना ने भीड़ पर गोलियां चलाई, जिसमें कई लोग घायल भी हुए हैं। जानकारी के मुताबिक, ये सभी फलस्तीनी गाजा मानवतावादी फाउंडेशन (जीएचएफ) नाम की संस्था की तरफ से चलाए जा रहे खाद्य वितरण केंद्रों की ओर जा रहे थे। यह संस्था अमेरिका और इस्राइल की मदद से मई महीने से गाजा में खाना बांट रही है। जीएचएफ ने मई महीने में गाजा में काम शुरू किया था। इसका मकसद भूखे लोगों को खाना पहुंचाना है। अमेरिका और इस्राइल ने इस संस्था को इसलिए समर्थन दिया क्योंकि उनका आरोप है कि पारंपरिक यूएन आधारित राहत वितरण प्रणाली में हमास के आतंकी राशन चुरा लेते हैं। हालांकि, संयुक्त राष्ट्र इस आरोप को सिरे से खारिज करता है। जीएचएफ दावा करता है कि उसने लाखों खाने के पैकेट बांटे हैं, लेकिन स्थानीय स्वास्थ्य विभाग और प्रत्यक्षदर्शियों का कहना है कि सैंकड़ों लोग इन केंद्रों पर गोलीबारी में मारे जा चुके हैं। जानकारी के अनुसार, गोलीबारी की घटना मुख्य रूप से दो जगहों पर हुई। जिसमें पहली घटना तेइना इलाका, खान यूनिस शहर के पास हुई। इस दौरान लगभग तीन किलोमीटर दूर जीएचएफ के एक केंद्र की ओर सैकड़ों लोग पैदल चल रहे थे। गवाहों के अनुसार, पहले इस्राइली सेना ने चेतावनी में हवाई फायरिंग की, लेकिन बाद में सीधे लोगों पर गोलियां बरसा दीं। एक प्रत्यक्षदर्शी ने बताया कि 'यह एक नरसंहार थाऽ सैनिकों ने अंधाधुंध गोलीबारी शुरू कर दी।' एक अन्य गवाह ने बताया कि टैंकों और ड्रोन से भी गोलियां चलाई गईं। इसके बाद घायल लोगों को उठाकर नासर अस्पताल, खान यूनिस लाया गया, जहां 25 शव और 70 घायलों की पुष्टि हुई है। दूसरी घटना शकूश इलाका, रफा शहर के पास हुई। यहां भी जीएचएफ केंद्र के पास भीड़ पर गोलियां चलीं, जिसमें सात लोगों की मौत हो गई, जिनमें एक महिला भी थी। घायलों को नजदीकी अस्पतालों में भर्ती कराया गया। इस गोलीबारी के बारे में जानकारी देते हुए एक शख्स ने कहा कि हमने चिल्लाकर कहा- खाना चाहिए, खाना! लेकिन उन्होंने हमसे बात नहीं की, सीधे गोलियां चलाईं।' एक जॉर्डन- फलस्तीनी व्यक्ति ने बताया कि उनका 19 साल का बेटा हिशाम भी मारा गया।

अब पंजाब में 'आप' की नहीं 'अनमोल' विधायक

जयपुर टाइम्स

चण्डीगढ़(एंजेसी)। पंजाब में खरड़ की विधायक अनमोल गगन मान ने विधानसभा से इस्तीफा दे दिया है। मान ने एक ट्वीट कर इसकी जानकारी दी। उन्होंने लिखा कि मेरा दिल भारी है, लेकिन मैंने राजनीति छोड़ने का फैसला कर लिया है। विधायक पद से स्पीकर को दिया गया मेरा इस्तीफा स्वीकार किया जाए। मेरी शुभकामनाएं पार्टी के साथ हैं। मुझे उम्मीद है कि पंजाब सरकार जनता की उम्मीदों पर खरी उतरेगी। अनमोल गगन मान पंजाब सरकार में पर्यटन मंत्री रह चुकी हैं। अनमोल गगन मान का पंजाबी गायिका से मंत्री तक का सफर काफी दिलचस्प है। उन्होंने साल 2020 में आम आदमी पार्टी ज्वाइन की थी। उन्होंने 2022 के विधानसभा चुनाव में शिरोमणि अकाली दल के प्रत्यशी रणजीत सिंह गिल को करीब 37718 मतों से हराया था। 2022 विधानसभा चुनाव में जीतने वालीं वह सबसे युवा नेताओं में से एक हैं। अनमोल गगन मान ने पार्टी का कैंपेन गीत भी तैयार किया था। अनमोल गगन मान का जन्म 1990 में मानसा में हुआ था। उनकी पढ़ाई-लिखाई चंडीगढ़ से हुई। इसके बाद उन्होंने पहले मॉडलिंग फिर गायकी में अपना करियर बनाया।

समाज को सकारात्मक दिशा देने में मीडिया की महत्वपूर्ण भूमिका

आपातकाल में मीडिया को कमजोर करने की हुई कोशिश: भजनलाल

जयपुर टाइम्स

जयपुर(कासं.)। मुख्यमंत्री भजनलाल शर्मा ने कहा कि मीडिया अपनी खबरों के माध्यम से समाज को सकारात्मक दिशा देने का कार्य कर देश और प्रदेश की प्रगति में उल्लेखनीय भूमिका निभाता है। साथ ही, युवाओं को प्रेरणा देकर जीवन में सफल बनाने में भी महत्वपूर्ण माध्यम बनता है। उन्होंने कहा कि समाचार-पत्र हमारे लोकतंत्र के चौथे स्तंभ माने जाते हैं। लेकिन आपातकाल के समय इस स्तंभ को कमजोर करने और गिराने की कोशिश की गई। उस समय मीडिया की सेंसरशिप तो की ही गई, साथ ही अनेक दिग्गज पत्रकारों को जेलों की सलाखों के पीछे भी पहुंचा दिया गया। शर्मा शुक्रवार को जयपुर में एक समारोह को संबोधित कर रहे थे। उन्होंने कहा कि समाचार पत्रों को प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी करने वाले युवा सामान्य ज्ञान के लिए पढ़ते हैं। लेकिन यह विडंबना ही है कि गत सरकार के समय उन्हें दिन-रात मेहनत

करने के बावजूद नौकरी नहीं मिली। जो गिनी-चुनी भर्तियां निकलीं, वे भी पेपरलीक की भेंट चढ़ गईं। शर्मा ने कहा कि हमारी सरकार ने युवाओं के सपनों को साकार करते हुए अब तक 75 हजार से अधिक सरकारी नियुक्तियों का तोहफा दिया है और वर्ष 2025 में 81 हजार से अधिक पदों पर भर्ती का कैलेंडर भी जारी किया है। उन्होंने कहा कि गुरुवार को एक साथ 26 हजार से अधिक पदों के लिए विज्ञप्तियां भी निकाली गई हैं।

डेढ़ वर्ष में हुए पूर्ववर्ती सरकार की तुलना में अधिक कार्य

मुख्यमंत्री ने कहा कि हमारी सरकार ने डेढ़ वर्ष में ही पूर्ववर्ती सरकार के पांच साल के कार्यकाल की तुलना में कहीं अधिक विकास कार्य किए हैं। रामजल सेतु लिंक परियोजना, यमुना जल समझौता, देवास परियोजना जैसी विभिन्न योजनाओं और इंदिरा गांधी नहर व गंगनहर के माध्यम से पानी की उपलब्धता सुनिश्चित की है। साथ ही, प्रदेश को बिजली के क्षेत्र में आत्मनिर्भर बनाकर वर्ष 2027 तक किसानों को दिन में बिजली उपलब्ध कराना भी हमारा लक्ष्य है। उन्होंने कहा कि राज्य सरकार ने प्रदेश में आधारभूत ढांचा सुदृढ़ करने की दिशा में पिछले दोनों बजटों में पर्याप्त धनराशि का प्रावधान किया है। 9 ग्रीन फील्ड एक्सप्रेसवे और जयपुर मेट्रो रेल परियोजना के अगले चरण पर भी कार्य किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त 450 रुपये में रसोई गैस सिलेंडर देने के साथ ही लखपति दीदी योजना व लाडो प्रोत्साहन योजना के माध्यम से महिला सशक्तीकरण किया जा रहा है।

वर्ष 2014 के बाद देश में आया ऐतिहासिक परिवर्तन

मुख्यमंत्री ने कहा कि प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में वर्ष 2014 के बाद देश में ऐतिहासिक परिवर्तन आया है। प्रधानमंत्री ने बेटी बचाओ-बेटी पढ़ाओ अभियान के माध्यम से लिंगानुपात में सुधार के साथ ही स्वच्छ भारत और एक पेड़ मां के नाम जैसे अभियानों के जरिए पर्यावरण के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय पहल की है। अब गरीब कल्याण की परिभाषा बदल चुकी है। केन्द्र सरकार की ओर से विभिन्न योजनाओं के अंतर्गत भेजी जाने वाली पूरी राशि हकदार तक पहुंचती है। शर्मा ने कहा कि जिन प्रतिभाशाली व्यक्तियों को कार्यक्रम में सम्मानित किया गया है वे सभी अपने-अपने क्षेत्रों में उत्कृष्ट कार्य कर रहे हैं। उनकी बातों का समाज पर गहरा प्रभाव पड़ता है और लोग उनका अनुसरण करते हैं। इसलिए ऐसे लोगों को जिम्मेदार नागरिक का कर्तव्य निभाते हुए समाज के अंतिम पायदान पर खड़े व्यक्ति तक केन्द्र और राज्य सरकार की कल्याणकारी योजनाओं का लाभ पहुंचाने में सहयोग करना चाहिए।

अलवर जयपुर टाइम्स

जयपुर, रविवार
20 जुलाई, 2025

महात्मा गांधी स्कूल में टॉयलेट ब्लॉक का किया उद्घाटन

जयपुर टाइम्स

अलवर(निसं.)। रोटरी क्लब अलवर ने 30 जून 2025 को महात्मा गांधी स्कूल, NEB आर्य नगर विस्तार में टॉयलेट ब्लॉक का डिस्ट्रिक्ट गवर्नर राहुल श्री वास्तव के द्वारा उद्घघाटन किया गया एवं स्कूल को सौंपा गया। उद्घघाटन में रोटरी क्लब अलवर के अध्यक्ष दीपक कट्टा, सचिव मुकुंद गुप्ता, संयोजक हर्ष गुप्ता, दीपक गुप्ता सहित अनेक गणमान्य लोग उपस्थित रहे।

विकास कार्यों के लिए ग्रामवासियो ने प्रधान का जताया आभार

जयपुर टाइम्स

बहरोड़(निसं.) पंचयात समिति बहरोड़ प्रधान कोटे से ग्राम पंचयात अनन्तपुरा के ग्राम निभोर, लक्ष्सीवास आदि गांवो मे 65 लाख रूपये के विकास कार्य कराए जाने पर ग्रामवासियो द्वारा प्रधान सरोज बस्तीराम का आभार व धन्यवाद जताया इस अवसर पर सरपंच ग्राम पंचायत सुरेश चंद भेड़ी, पूर्व सरपंच अनिल यादव, ज्ञानी राम यादव, लाला सेठ, रामकिशन गुर्जर, रतनलाल, रामा नंद आर्य, सी पी शर्मा, विक्रम गुर्जर, जगमाल गुर्जर, दिलीप सिंह पीटीआई, कप्तान नरेंद्र सिंह, रघुवीर मास्टर, रंगलाल, अंबावता, बजरंग, राधेश्याम शर्मा, वचन सिंह, दिनेश, गौतम भेड़ी, रामकिशन पंच, रोशन लाल सहित दर्जनों गणमान्य जनप्रतिनिधि अनुपस्थित रहे। सभी ग्रामवासियों ने कहा कि प्रधान कोटे से पहली बार हमारे तीनों गांव में प्रधान द्वारा ऐतिहासिक विकास के काम करवाए गए हैं।

घरेलू महिलाओं ने हासिल की दक्षता, हाथ से बनी राखियों की प्रदर्शनी सोमवार से

जयपुर टाइम्स

अलवर(निसं.)। अलवर की 100 से अधिक महिलाओं ने अपने आपको स्वावलंबी बनाने के लिए आर्ट एंड क्राफट में प्रशिक्षण लिया और अब इनकी बनी राखियां और अन्य सामग्री की प्रदर्शनी सोमवार से पुराने सूचना केन्द्र नेहरू उद्यान के बाहर लगाई जाएगी। नगर निगम के स्वयं सहायता समूह की महिलाओं ने आर्ट एंड क्राफट में प्रशिक्षण लिया। ऐसी महिलाओं को नेक कमाई फाउंडेशन ने तराशा और उन्हें नई पहचान दी। महिला सशकितकरण कार्यक्रम की प्रोजेकट कोर्डिनेटर बिंदू कपूर के नेतृत्व में 31 महिलाओं ने राखियां बनाने का प्रशिक्षण लिया। अन्य महिलाओं ने जूट के बैग, उपहार सामग्री सहित बनाने में दक्षता हासिल की है। इन महिलाओं के समूह की ओर से सोमवार से रक्षा बंधन पर्व प्रदर्शनी लगाई जाएगी। इसमें इन महिलाओं की बनी हुई राखियां और अन्य उत्पादों का प्रदर्शन और बिक्री होगी जो बिना किसी मुनाफे की जाएगी। इन महिलाओं के उत्पाद के हिसाब से कई समूह हैं जिन्होंने आचार व मुरबबे बनाने, शो पीस, जूट का सामान सहित बहुत से कार्यों में दक्षता हासिल की है। जिला प्रशासन की ओर से इनकी स्टॉल कई बार मेले और प्रदर्शनियों में लगी हैं जिसका बेहद रिस्पांस मिला है। कोर्डिनेटर बिंदू कपूर ने शहर वासियों ने अलवर की महिलाओं की ओर से बनाई राखियों और आर्ट एंड क्राफट की वस्तुओं को देखने की अपील की है। देश के कई प्रतिष्ठित कार्यक्रमों और प्रदर्शनियों में नेक कमाई फाउंडेशन की ओर से इन प्रशिक्षित स्वयं सहायता समूह की महिलाओं को राष्ट्रीय स्तर के सममान मिल चुके हैं। जिला प्रशासन की ओर से आयोजित कई कार्यक्रमों में इन समूह की सक्रिय भूमिका रही है।

आरजीएचएस स्कीम घोटाला

चिकित्स्कों ने दिया कारण बताओ नोटिस का जवाब

प्रेस वार्ता कर रखा अपना पक्ष

दोषियों पर होंगी कार्रवाई - सीएमएचओ डॉ. योगेंद्र शर्मा

जयपुर टाइम्स

राजगढ़(निसं.) राजस्थान सरकार की महत्वाकांक्षी स्वास्थ्य योजना राजस्थान गवर्नमेंट हेल्थ स्कीम के तहत मरीजों की सेहत के साथ खुलेआम खिलवाड़ किया जा रहा है रिपोर्ट न सिर्फ हैरान करने वाली है वही मरीजों के भरोसा भी तोड़ने वाली है स्वास्थ्य विभाग की जांच में इस गड़बड़ी का खुलासा होने के बाद अलवर जिले के 11 डॉक्टरों और कई मेडिकल स्टोर संचालकों को नोटिस थमाए गए हैं सबसे चौंकाने वाली बात यह है कि राजगढ़ सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्र के इस प्रकरण मे शामिल सभी डॉक्टरों पर कार्रवाई की जा रही है जांच में चौंकाने वाली बात यह भी सामने आई है कि कई डॉक्टरों ने मरीज को देखे बिना ही दवा पर्चियां बना दीं यहां तक कि कुछ मामलों में मरीजों को जानकारी दिए बिना ही उनके नाम से दवा खरीदी गई और रिकॉर्ड में चढ़ा दी गई इस खेल में फर्जी पर्चियां, डॉक्टरों की नकली मोहर, और मेडिकल स्टोर संचालकों की मिलीभगत के ठोस प्रमाण सामने आए हैं

बड़े पैमाने पर कार्रवाई की तैयारी

राज्य सरकार के स्वास्थ्य मुख्यालय से निर्देश के बाद पूरे मामले की जांच अलग-अलग स्तर पर चल रही ह। ड्रग विभाग दवाओं की दुकानों की निगरानी कर रहा है तो वहीं स्वास्थ्य अधिकारी डॉक्टरों से पूछताछ कर उनके बयान रिकॉर्ड कर रहे हैं जांच रिपोर्ट को जल्द ही स्वास्थ्य विभाग के उच्च अधिकारियों को सौंपा जाएगा और फर्जीवाड़े में संलिप्त पाए जाने वालों के खिलाफ अनुशासनात्मक कार्रवाई की जाएगी

चिकित्स्कों ने प्रेस वार्ता कर दी जानकारी

शनिवार को राजगढ़ सीएचसी परिसर हाल मे सीएचसी के चिकित्सक जो राजस्थान स्टेट हेल्थ स्कीम प्रकरण मे शामिल है उन्होंने प्रेस वार्ता कर बताया की राजगढ़ लेवल पर 232 पर्चीया आई है उसमे पाया गया की 80 से ज्यादा पर्चीया राजगढ़ के किसी भी चिकित्सक द्वारा नहीं लिखी गयी है कुछ पेंशनर्स का मामला था। कुछ मेडकील स्टोर का ममाला था इसके बारे मे हमने सीएमएचओ द्वारा कारण बताओ नोटिस का जवाब दे दिया है आगामी कार्रवाई चिकत्सा विभाग करेगा वही चिकित्सक सत्य प्रकाश मीणा ने कहा की कुछ पर्चीया ऐसी है जो मेरे अवकाश के दिनों मे लिखी गयी है। उन पर्चीयो मे करीब 12 से 15 दवाई लिखी गयी है जिनका कस्बे के माचाडी स्तिथ एक मेडिकल स्टोर से बिल जारी हुए है वही इस प्रकरण मे शामिल चिकित्स्कों ने अपना - अपना पक्ष रखा ।

सीएमएचओ का कहना

मुख्य चिकित्सा एवं स्वास्थ अधिकारी डॉ. योगेंद्र शर्मा ने कहा की जांच जारी है वही राजगढ़ सीएचसी के चिकित्स्कों ने अपना पक्ष रखा है उसकी पुरे प्रकरण की गहनता से जांच जारी है वही ड्रग्स कंट्रोल विभाग भी दवाओं की दुकानों पर निगरानी रख रहा है प्रकरण मे जो भी दोषी होगा उस पर निश्चित कार्रवाई की जाएगी

अलवर में हम भारतीय जनता पार्टी का मोरिया बुला देंगे- नेता प्रतिपक्ष टीकाराम जूली

'संविधान बचाओ रैली' का हुआ आयोजन

जयपुर टाइम्स

अलवर(निसं.)। अलवर में शनिवार को 'संविधान बचाओ रैली' को लेकर आयोजित सभा में नेता प्रतिपक्ष टीकाराम जूली ने भारतीय जनता पार्टी पर जमकर प्रहार किया। जूली बोले अलवर में हम भारतीय जनता पार्टी का मोरिया बुला देंगे। उन्होंने कहा कि अलवर के दोनों जनप्रतिनिधि जो एक राजस्थान सरकार और दूसरा भारत सरकार में प्रतिनिधित्व कर रहा है उनके होते हुए सीटीएच चेंज करने का काम किया जा रहा है। उन्होंने कहा कि खुद भारतीय जनता पार्टी के पूर्व विधायक ने 500 करोड़ रुपए के घोटाले को लेकर इन पर आरोप लगाए है। अलवर की तपोभूमि पर बाबा भर्तृहरि के जय घोष के साथ उद्बोधन देते हुए जूली ने कहा कि यह संविधान बचाने की मुहिम है यह लाल किताब कोई साधारण किताब नहीं बल्कि 400 पार के नारे के साथ संविधान को बदलने वालों की हवा निकालने की ताबूद है। जूली बोले विश्व पटल पर अपनी पहचान रखने वाली सरिस्का में एक बार शिकारी सक्रिय हो गए थे फिर मनमोहन और गहलोत सरकार ने टाइगर प्रोजेक्ट लाया लेकिन अब तो खनन माफियाओं को फायदा पहुंचाने के लिए और किसानों की जमीन हड़पने के लिए जनप्रतिनिधि ही शिकारी बन गए हैं। उन्होंने कहा कि डबल और ट्रिपल इंजन की सरकार का दम भरने वाली भारतीय जनता पार्टी की सरकार कांग्रेस सरकार में तैयार हुए नवनेरा और ईसरदा बांध को आगे बढ़ा दे ताकि किसानों की तकदीर और तस्वीर बदल सके। जूली बोले राम का नाम लेकर भले ही भाजपा सत्ता में आ गई लेकिन मंदिरों को तोड़कर और माफिया से मिलकर जंगल के शेर को बाहर निकालने का इनका प्रयास सफल नहीं होने देंगे। जूली बोले रावण रूपी भाजपा सरकार जो षड्यंत्र रच रही है हम किसी भी सूरत में लोकतंत्र की हत्या नहीं होने देंगे।

स्वतंत्रता से लेकर संविधान बनाने का अलवर का योगदान कभी भुलाया नहीं जा सकता- पूर्व केंद्रीय मंत्री सिंह

पूर्व केंद्रीय मंत्री जितेंद्र सिंह ने कहा कि स्वतंत्रता से लेकर संविधान बनाने का अलवर का योगदान किसी से छुपा नहीं है। उन्होंने कहा कि यह झंडा राजा जयसिंह ने उठाया था। उन्होंने महात्मा गांधी के साथ मिलकर ग्राउंड टेबल पर आजादी की मांग की। सिंह बोले अलवर के डीएनए में ही डर बिल्कुल नहीं है यहां से हमेशा बुलंद आवाज के बाद तख्ता पलट हुआ है। उन्होंने कहा कि संविधान पर सबसे बड़ा हमला भारतीय जनता पार्टी वोट के माध्यम से करना चाह रही है। उन्होंने कहा कि बिहार, महाराष्ट्र, हरियाणा के बाद अब राजस्थान में भी भाजपा वोटो को काटने का काम कर रही है। उन्होंने कहा कि वोट हमारा सबसे बड़े हथियार है जिसको छीनने का प्रयास किया जा रहा है। उन्होंने उपस्थित जन समूह से अपील करते हुए कहा कि संविधान को बचाने के लिए हम सब प्रतिज्ञा करें यह एक तरीके से आजादी की लड़ाई है। सिंह ने नेता प्रतिपक्ष टीकाराम जूली के राम मंदिर में पूजा करने के बाद भाजपा के पूर्व विधायक के गंगाजल कांड का भी जिक्र किया। इस अवसर पर प्रदेश अध्यक्ष गोविंद सिंह डोटासरा, प्रभारी सुखजिंदर सिंह रंधावा, सह प्रभारी चिरंजीवी राव, पूर्व आईटीडीसी चेयरमैन धर्मेंद्र राठौर, महिला कांग्रेस की प्रदेश अध्यक्ष सारिका चौधरी, सांसद सजना जाटव, जिलाध्यक्ष योगेश मिश्रा, महिला कांग्रेस अध्यक्ष कमलेश सैनी, विधायक दीपचंद खेरिया, कांति मीणा, मांगीलाल मीणा, पूर्व मंत्री शकुंतला रावत, पूर्व विधायक बलजीत यादव, कृष्ण मुरारी गंगावत, जोहरी लाल मीणा, अजय अग्रवाल, जुबेर आर्यन खान, संजय यादव, विनोद जाखड़, रमेश खंडेलवाल, फूल सिंह ओला, ब्लॉक अध्यक्ष नरेंद्र सावित्री मीणा, इमरान खान, संजय जायसवाल, जफरु खान सहित बड़ी संख्या में गणमान्य लोग उपस्थित रहे।

अतिरिक्त जिला कलक्टर ने ग्राम पंचायत पेहल में रात्रि चौपाल का किया आयोजन

अतिरिक्त कलेक्टर ने अधिकारियों को दिए समस्याओं के त्वरित निस्तारण के निर्देश

जयपुर टाइम्स

खैरथल-तिजारा। जिला कलेक्टर किशोर कुमार कि अध्यक्षता में शुक्रवार को पंचायत समिति मुंडावर की ग्राम पंचायत पेहल में रात्रि चौपाल का आयोजन किया गया। इस अवसर पर आमजन की ओर से कुल 23 परिवाद प्राप्त हुए, जिन्हें अतिरिक्त जिला कलेक्टर ने मौके पर ही गंभीरता से सुना तथा संबंधित विभागीय अधिकारियों को सात दिवस में समयबद्ध एवं गुणवत्तापूर्ण निस्तारण के निर्देश दिए। अतिरिक्त जिला कलेक्टर शिवपाल जाट ने स्पष्ट रूप से कहा कि अधिकारी किसी भी प्रकरण को लंबित न रखें, यदि कोई मामला उनके क्षेत्राधिकार से बाहर है तो उच्चाधिकारियों से संपर्क कर समाधान सुनिश्चित करें। साथ ही अधिकारियों को परिवादी से व्यक्तिगत संपर्क बनाकर एवरेज डिस्पोजल टाइम में सुधार लाने के निर्देश भी दिए गए। रात्रि चौपाल में सड़क का डामरीकरण कराने, व्याख्याता के रिक्त पदों को भरने, मंदिर का रस्ता बनवाने, विरासत का नामांतरण खुलवाने बाबत, ग्राम सेवा सहकारिता समिति में गबन की जांच करवाने, पुलिस द्वारा कार्य करवाने सहित बिजली पानी से संबंधित 23 प्रकरण प्राप्त हुए, जिन पर अतिरिक्त जिला कलेक्टर ने तत्परता से संज्ञान लिया। उन्होंने कहा कि आम रास्तों पर अतिक्रमण, भूमि पैमाइश संबंधी आपसी विवाद तथा आवासीय क्षेत्रों में अतिक्रमण जैसे मामलों में पुलिस सहायता लेकर शीघ्र समाधान सुनिश्चित किया जाए। विभिन्न विभागों के अधिकारियों ने सरकार द्वारा चलाई जा रही विभिन्न योजनाओं जैसे वृद्ध जन पेंशन योजना, आपकी बेटी योजना, गार्गी योजना, अटल पेंशन योजना, जीवन ज्योति बीमा, विधवा पेंशन योजना, मुख्यमंत्री पालनहार योजना, मुख्यमंत्री कन्यादान योजना, सशक्त खैरथल तिजारा, लाडो योजना, वर्मी कंपोस्ट, मिट्टी जांच, किसान उपकरण अनुदान योजना, जल जीवन मिशन, पीएम सूर्यघर योजना, पीएम विश्वकर्म योजना किया के बारे में विस्तार से आवेदन की प्रक्रिया के बारे में बताया। उन्होंने कृषि विभाग की विभिन्न योजनाएं जैसे तारबंदी योजना, फार्म पॉन्ड योजना, प्याज भंडारण सहित अन्य योजनाओं के बारे में जानकारी दी। इस दौरान उपखंड अधिकारी रेखा यादव, विकास अधिकारी संजय यादव, नायब तहसीलदार, सरपंच ग्राम पंचायत, समस्त ग्रामवासी एवं जिला व ब्लॉक स्तरीय अधिकारीगण उपस्थित रहे।

शिक्षकों की कमी से जूझ रहे हैं शहरी क्षेत्र के विद्यालय

कैसे बढ़ेगा नामांकन, ना शिक्षक, ना भवन

जयपुर टाइम्स

राजगढ़(निसं.) राजगढ़ शहरी क्षेत्र के राजकीय विद्यालय शिक्षकों की कमी के कारण जूझ रहे हैं। शहरी क्षेत्र के विद्यालयों में शिक्षक नहीं होने के कारण विद्यालयों में नामांकन नहीं बढ़ पा रहा है। वहीं शहर के राबाउप्रावि न.2 राजगढ़, राउप्रावि पटायरी की डूंगरी, राउप्रावि नवी बक्श का बाग में भवनों की स्थिति भवन जर्जर हालत में है। जिसके कारण हादसे का खतरा बना रहता है। कस्बे के नवीन बस स्टैंड रोड़ पर स्थित राजकीय बालिका उच्च प्राथमिक विद्यालय न. 2 में जर्जर कक्षा कक्षों में कक्षाएं संचालित हो रही है। विद्यालय में 4 कक्ष है जिनमें से 2 कक्ष तो पूर्णत जर्जर अवस्था में है दो कक्षा कक्षों में अध्यापन कार्य किया जा रहा है जो भी बारिश के मौसम में टपक रहे हैं जिसके कारण बच्चों की जान को खतरा बना रहता है। उन्हीं कक्षा कक्षों में पोषाहार का सामान, कार्यालय सम्बंधित सामग्री, पुस्तकालय की किताबें रखी हुई है। वर्तमान में विद्यालय में 60 बच्चों का नामांकन है। अभिभावकों ने बताया कि विद्यालय का भवन जर्जर होने तथा अध्यापकों की कमी के कारण अभिभावक विद्यालय में बच्चों को अध्यापन के लिए नहीं भेज रहे हैं। विद्यालय के प्रधानाध्यापक नरेश चंद सैनी ने बताया कि विद्यालय में एक से आठवीं तक के बच्चों को वर्तमान में दो कक्षों में ही अध्यापन का कार्य करवाया जा रहा है। बारिश के कारण दो कक्षों में से पानी टपकता है। जिसके कारण बच्चों की छुट्टी करनी पड़ती है। छत टपकने से हमेशा हादसे का खतरा बना रहता है। उन्होंने कहा कि अध्यापकों की कमी व जर्जर भवन होने के कारण अभिभावक बच्चों की टीसी ले जा रहे हैं।

दो शिक्षकों के भरोसे है विद्यालय

राजकीय बालिका उच्च प्राथमिक विद्यालय न. 2 राजगढ़ के प्रधानाध्यापक नरेश चंद सैनी ने बताया कि विद्यालय में 9 पद स्वीकृत हैं। वर्तमान में प्रधानाध्यापक व पीटीआई पद पर कार्यरत हैं। विद्यालय में 7 पद रिक्त होने के कारण विद्यालय में नामांकन नहीं बढ़ पा रहा है। हाल ही में मुख्य ब्लॉक शिक्षा अधिकारी द्वारा महात्मा गांधी राजकीय विद्यालयों से अधिशेष दो शिक्षिका प्रतिनियुक्ति पर लगाई गई है। लेकिन उनका समायोजन अन्य विद्यालयों में होने जा रहा है। विद्यालय में गणित, विज्ञान, संस्कृत तथा लेवल-प्रथम के पद रिक्त होने से पढ़ाई चौपट हो रही है।

शहरी विद्यालयों में है अध्यापकों का टोटा

राजगढ़ ब्लॉक के शहरी विद्यालयों में अध्यापकों का टोटा है। राजकीय प्राथमिक विद्यालय बारलाबास में वर्षो से 1 शिक्षक ही कार्यरत हैं। वहीं राउप्रावि पटायरी की डूंगरी में 52 विद्यार्थियों का नामांकन है जिसमें 4 शिक्षक कार्यरत हैं। राउप्रावि नवी बक्श में 51 विद्यार्थियों के नामांकन पर 2 शिक्षक कार्यरत हैं। राउप्रावि न.3 राजगढ़ में 100 का नामांकन है जिसमें 4 शिक्षक कार्यरत हैं। अभी हाल ही में महात्मा गांधी राजकीय विद्यालयों से अधिशेष हुए कार्मिकों को भी ग्रामीण क्षेत्रों में ही लगाया जा रहा है। यदि इन शिक्षकों को शहरी क्षेत्रों में लगाया जाए तो अध्यापकों की कमी दूर की जा सकती है। स्थानीय शहरी विद्यालयों के शिक्षकों ने बताया कि शहरी विद्यालय में केवल स्थानांतरण के माध्यम से ही अध्यापक आ सकते हैं। लेकिन वर्तमान में शिक्षा विभाग में स्थानांतरण नहीं हो रहे हैं जिसके कारण विद्यालयों में शिक्षकों की भारी कमी है। जिससे विद्यार्थियों का भविष्य अंधकारमय बना हुआ है।

इनका कहना

"राबाउप्रावि न.2 राजगढ़ में बच्चों को बैठने के लिए कक्षा कक्षाओं का अभाव है। बारिश के मौसम में कक्षों की छत टपकने के कारण हमेशा हादसे का खतरा बना रहता है। विद्यालय के पीछे खाई होने के कारण पानी के तेज विद्यालय की चारदीवारी ढह गई है। जिसके कारण विद्यालय में आवारा पशु प्रवेश कर जाते हैं। शहरी विद्यालय होने के कारण अध्यापकों की कमी से जूझ रहे हैं

नरेश चंद सैनी प्रधानाध्यापक राबाउप्रावि न. राजगढ़

"राजकीय बालिका उच्च प्राथमिक विद्यालय न.2 राजगढ़ के भवन की मरम्मत का प्रस्ताव तथा दो अतिरिक्त कक्षा कक्ष बनाने का प्रस्ताव समसा कार्यालय अलवर भेजा हुआ है। स्वीकृति जारी होते ही निर्माण कार्य करवाया जाएगा

त्रिलोक चंद शर्मा कनिष्ठ अभियंता, समसा राजगढ़

"जिन विद्यालयों में शिक्षकों के पद रिक्त हैं वहां पर शिक्षकों की वैकल्पिक व्यवस्था कर रखी है। जिन विद्यालयों में शिक्षकों की कमी है वहां और व्यवस्था कर दी जाएगी। जर्जर भवनों के मरम्मत के प्रस्ताव जिला कार्यालय को भिजवाएं गये है।

लीलावती मीना मुख्य ब्लॉक शिक्षा अधिकारी राजगढ़

निवारू रोड पर बारिश बनी मुसीबत, सड़क पर भरा पानी और गड्ढों ने बढ़ाई परेशानी

जयपुर टाइम्स

जयपुर(कासं.) निवारू रोड पर शनिवार रात हुई तेज बारिश के बाद सड़क पर पानी भर गया, जिससे आमजन को भारी परेशानियों का सामना करना पड़ रहा है। सड़क के कई हिस्सों में जलभराव होने से वाहनों की आवाजाही बाधित हो रही है, वहीं जगह-जगह उभरे गड्ढों ने दुर्घटनाओं की आशंका भी बढ़ा दी है। स्थानीय लोगों का कहना है कि हर बारिश के बाद यही हाल होता है, लेकिन प्रशासन कोई स्थायी समाधान नहीं करता। जल निकासी की उचित व्यवस्था न होने के कारण बारिश का पानी घंटों तक सड़क पर जमा रहता है, जिससे दोपहिया वाहन चालकों को विशेष रूप से मुश्किल होती है। कई जगहों पर तो पैदल चलना भी दूभर हो गया है। वहीं कुछ दुकानदारों ने शिकायत की कि जलभराव के कारण उनके व्यापार पर असर पड़ा है और ग्राहकों की आवाजाही ठप हो गई है। स्थानीय पार्षद और क्षेत्रीय विधायक से निवासियों ने अपील की है कि निवारू रोड की दुर्दशा पर संज्ञान लेकर जल निकासी और सड़क मरम्मत का स्थायी समाधान जल्द से जल्द किया जाए

महरोली में चारा काटते समय करंट लगने से युवक की मौत

जयपुर टाइम्स

रींगस(निस)। पुलिस थानांतर्गत गांव महरोली में पशुओं के लिए चारा काटते समय करंट लगने से युवक की मौत हो गई, जिसके शव का रींगस के राजकीय उप जिला अस्पताल की मोर्चरी में पोस्टमार्टम करवाया गया। सब इंस्पेक्टर कंचन ने बताया कि मशीन से चारा काटते समय करंट लगने से प्रदीप उर्फ गुड्डू (34) पुत्र हनुमान प्रसाद जांगिड़ निवासी वार्ड संख्या 4 महरोली की मौत हो गई। मृतक के भतीजे शिवम पुत्र राजकुमार जांगिड़ ने रिपोर्ट दी जिसमें बताया कि उसके चाचा घर पर ही गाय के लिए चारा काट रहे थे। इसी दौरान मशीन से करंट लगने से बेहोश हो गए जिनको रींगस राजकीय उप जिला अस्पताल लाया गया जहां पर चिकित्सकों ने मृत घोषित कर दिया। मृतक युवक गांव में ही फर्नीचर का काम करता था। जिसकी वर्ष 2015 में शादी हुई थी। मृतक के एक 9 वर्षीय पुत्र युग और 11 माह की पुत्री वृंदा है। मृतक प्रदीप के 2 भाई और 3 बहिनें है। मृतक के पिता हनुमान प्रसाद जांगिड़ भी गांव में ही फर्नीचर का काम करते हैं।

कावड़ यात्रा एवं 11 रूद्र पार्थिव शिवलिंग रुद्राभिषेक महोत्सव आज

जयपुर टाइम्स

अलवर(निसं.)। श्री संत भारतीय सामाजिक सेवा संस्थान अलवर द्वारा रविवार को सावन मास के पावन पर्व पर कावड़ यात्रा एवं 11 रूद्र पार्थिव शिवलिंग रुद्राभिषेक महोत्सव का आयोजन किया जा रहा है। अध्यक्ष प्रमोद विजय ने बताया कि यह आयोजन श्री गुरु हरिकिशन पब्लिक स्कूल से बैंड बाजे तथा मनमोहक झांकियां व डीजे के साथ प्रारंभ होकर पुरजन विहार (कंपनी बाग) तक कावड़ यात्रा के रूप में संपन्न होगा। जिसमें भारत माता की झांकी एवं पुलिस बैंड विशेष आकर्षण रहेंगे। इस विशेष अवसर पर हरिद्वार से टैंकर द्वारा लाया गया मां भगवती भागीरथी (मां गंगा) भगवान भोलेनाथ के 11 पार्थिव रूद्र स्वरूपो पर वैदिक विधि विधान से 11 वेदपाठी विद्वानों द्वारा रूद्र पाठ और रुद्राभिषेक के साथ अर्पित किया जाएगा, साथ ही जो भी श्रद्धालु हरिद्वार से कावड़ लाने की इच्छा रखते हैं परंतु किन्हीं कारणो की वजह से नहीं ला पाते हैं उनको भी इस अनुष्ठान से जोडना़ ही हमारा उद्देश्य है। कावड़ वितरण का समय प्रात सवा 7 बजे रहेगा। कार्यक्रम पश्चात प्रसादी व्यवस्था होगी।

पशुपालन मंत्री ने की पाली के सुमेरपुर में जनसुनवाई, आमजन की समस्याओं का प्राथमिकता से समाधान हो - जोराराम कुमावत

जयपुर टाइम्स

जयपुर(कासं.)। पशुपालन मंत्री जोराराम कुमावत ने शनिवार को पाली जिले के सुमेरपुर में जनसुनवाई की। उन्होंने अधिकारियों को आमजन की समस्याओं का निस्तारण करने के निर्देश दिये। कुमावत ने आमजन की समस्याओं को सुन अधिकारियों प्राथमिकता से निस्तारण किये जाने के निर्देश दिए। उन्होंने कहा कि मुख्यमंत्री भजनलाल शर्मा की मंशा है कि आमजन को किसी प्रकार की समस्या न हो। जनसुनवाई में उन्होंने बिजली, पानी, सड़क समेत विभिन्न विभागों से जुडे 40 प्रकरणों के समाधान के निर्देश दिये। इस अवसर पर कुमावत ने क्षेत्र में हो रही बरसात को लेकर भी अलर्ट रहने के अधिकारियों को निर्देश दिए। उन्होंने हरियालो राजस्थान अभियान एवं एक पेड़ मां के नाम अभियान पर जोर दिया, साथ ही उन्होंने आमजन से सरकार की विभिन्न जनकल्याणकारी योजनाओं का लाभ लेने के लिये कहा।

Name change

I, No 8375089-P Warrant Officer Mangal chand Saran S/O Om parkash 704 FPO C/O 56 APO Suratgarh Cantt have changed Wife Name From Meena to Maina wich is worngly written in my service records.

राइजिंग राजस्थान समीक्षा बैठक

एमओयू की ग्राउंड ब्रेकिंग के लिए विशेष कार्ययोजना बनाकर करें काम, युवाओं के लिए रोजगार सृजन में राइजिंग राजस्थान समिट मजबूत आधारः भजनलाल शर्मा

जयपुर टाइम्स

जयपुर(कासं.)। मुख्यमंत्री भजनलाल शर्मा ने कहा कि राजस्थान की आर्थिक प्रगति को गति प्रदान करने में राइजिंग राजस्थान ग्लोबल इन्वेस्टमेंट समिट मील का पत्थर साबित हो रही है। उन्होंने कहा कि वर्ष 2030 तक राज्य की अर्थव्यवस्था को 350 बिलियन डॉलर बनाने में समिट के निवेश प्रस्ताव उल्लेखनीय भूमिका निभाएंगे। शर्मा ने कहा कि प्रदेश में निवेश बढ़ाने के साथ ही युवाओं के लिए रोजगार सृजन राज्य सरकार की सर्वोच्च प्राथमिकता है। निजी क्षेत्र में 6 लाख रोजगार सृजन के हमारे लक्ष्य की दिशा में भी यह समिट मजबूत आधार बनेगी। समिट के तहत हुए एमओयू के धरातल पर मूर्त रूप लेने से युवाओं के लिए बड़ी संख्या में रोजगार के अवसर भी सृजित हो रहे हैं। शर्मा ने शनिवार को मुख्यमंत्री निवास पर राइजिंग राजस्थान ग्लोबल इन्वेस्टमेंट समिट के एमओयू क्रियान्वयन की समीक्षा बैठक की अध्यक्षता की। उन्होंने अधिकारियों को निर्देश दिए कि आपसी समन्वय से एमओयू को धरातल पर मूर्त रूप देने के साथ ही आगामी तिमाही के ग्राउंड ब्रेकिंग लक्ष्य की समयबद्ध प्राप्ति सुनिश्चित की जाए। उन्होंने उद्योग विभाग को सभी विभागों से समन्वय कर एमओयू क्रियान्वयन की प्रगति की मॉनिटरिंग करते हुए रिपोर्ट प्रस्तुत करने के निर्देश दिए। मुख्यमंत्री ने इस वित्तीय वर्ष की पहली तिमाही में विभागों के ग्राउंड ब्रेकिंग लक्ष्यों की समीक्षा करते हुए ऊर्जा, उद्योग, खनन, यूडीएच, कृषि और चिकित्सा एवं स्वास्थ्य विभागों के एमओयू क्रियान्वयन की प्रगति की सराहना की। उन्होंने अधिकारियों को निर्देश दिए कि आगामी तिमाही में भी इसी प्रकार ग्राउंड ब्रेकिंग लक्ष्यों की प्राप्ति की जाए। उन्होंने राजस्व विभाग को निर्देश दिए कि भूमि आवंटन की प्रक्रिया में और तेजी लाए। उन्होंने कहा कि प्रदेश में एविएशन क्षेत्र में अपार संभावनाएं हैं। इस क्षेत्र के निवेश प्रस्तावों के धरातल पर मूर्त रूप लेने से प्रदेश में हवाई सेवाओं का विस्तार होगा और पर्यटन को बढ़ावा मिलेगा। शर्मा ने समिट के तहत हुए निवेश एमओयू की श्रेणीवार भी समीक्षा करते हुए अधिकारियों को निर्देश दिए कि आगामी तिमाही में इनकी ग्राउंड ब्रेकिंग के लिए सभी विभाग विशेष कार्ययोजना बनाकर मिशन मोड पर कार्य करें। इस अवसर पर उद्योग व वित्त विभाग के अधिकारी मौजूद रहे तथा राजस्व एवं यूडीएच विभाग के अधिकारी वीसी के माध्यम से जुड़े।

कैबिनेट मंत्री जोराराम कुमावत पहुंचे जालोर, अभयदास महाराज का अनशन तुड़वाया

जयपुर टाइम्स

सुमेरपुर-जालोर(निसं.) राज्य के पशुपालन, गोपालन, डेयरी एवं देवस्थान विभाग के कैबिनेट मंत्री जोराराम कुमावत शनिवार को जालोर पहुंचे, जहां उन्होंने जालोर मुख्यालय पर चल रहे कथावाचक अभयदास महाराज के अनशन को सफलतापूर्वक तुड़वाया। अभयदास महाराज विभिन्न मांगों को लेकर अनशन पर बैठे हुए थे। मंत्री कुमावत ने मौके पर पहुंचकर उनसे संवाद किया, समस्या की गंभीरता को समझा और समाधान का आश्वासन देते हुए नारियल पानी पिलाकर उनका अनशन समाप्त करवाया। उन्होंने महाराज की मांगों पर सहमति व्यक्त करते हुए प्रशासन को आवश्यक दिशा-निर्देश भी दिए। अनशन समाप्ति के पश्चात मंत्री कुमावत बायोसा मंदिर पहुंचे, जहां उन्होंने कथावाचक अभयदास महाराज के साथ मंदिर में दर्शन किए और पूजा-अर्चना की। उन्होंने श्रद्धालुओं से भी मुलाकात की और क्षेत्र की धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति की जानकारी ली। इस दौरान जिला कलक्टर डॉ. प्रदीप के. गावंडे, जिला पुलिस अधीक्षक ज्ञानचंद्र यादव, प्रशासनिक अधिकारी, साधु-संत, सामाजिक कार्यकर्ता और बड़ी संख्या में आमजन उपस्थित रहे। मंत्री कुमावत ने कहा कि सरकार संतों और जनप्रतिनिधियों की बातों को सम्मानपूर्वक सुनने और सकारात्मक समाधान देने के लिए प्रतिबद्ध है। उन्होंने यह भी आश्वासन दिया कि अभयदास महाराज की मांगों पर यथासंभव शीघ्र कार्रवाई की जाएगी।

राष्ट्रीय प्राकृतिक खेती मिशन अंतर्गत कृषक सखी प्रशिक्षण शिविर का सफल समापन

जयपुर टाइम्स

जयपुर(कास्.) श्री कर्ण नरेंद्र कृषि विश्वविद्यालय, जोबनेर के प्रसार शिक्षा निदेशालय में राष्ट्रीय प्राकृतिक खेती मिशन के अंतर्गत आयोजित पाँच दिवसीय "कृषक सखी/सीआरपी प्रशिक्षण कार्यक्रम" का शनिवार को सफलतापूर्वक समापन हुआ। इस प्रशिक्षण में भाग लेने वाली महिला कृषक सखियों को प्राकृतिक खेती के विभिन्न पहलुओं पर व्यावहारिक और सैद्धांतिक जानकारी दी गई। कार्यक्रम के मुख्य अतिथि कुलपति डॉ. बलराज सिंह ने प्रशिक्षणार्थियों को संबोधित करते हुए कहा कि आधुनिक रासायनिक खेती के दुष्परिणामों से बचने के लिए प्राकृतिक खेती ही एक सशक्त विकल्प है। उन्होंने संसाधनों के समुचित उपयोग और जैविक विधियों को अपनाने पर जोर दिया। विशिष्ट अतिथि ईश्वरलाल यादव (अतिरिक्त निदेशक, कृषि विस्तार, जयपुर) ने कहा कि बीमारियों से बचाव और जहरीले खाद्यान्न से मुक्ति के लिए प्राकृतिक खेती जरूरी है। कार्यक्रम की अध्यक्षता डॉ. एस.आर. ढाका (निदेशक, प्रसार शिक्षा) ने की। उन्होंने कहा कि प्राकृतिक खेती के प्रति जागरूकता बढ़ाना आज की जरूरत है और कृषक सखियों की भूमिका इसमें महत्वपूर्ण है। भगवान सहाय यादव (उपनिदेशक कृषि एवं आत्मा परियोजना निदेशक) ने कृषक सखियों को उनके कर्तव्यों और जिम्मेदारियों से अवगत कराया। डॉ. सुरेश यादव (सहायक निदेशक, कृषि विस्तार) ने राष्ट्रीय प्राकृतिक खेती मिशन की व्यापक जानकारी दी। प्रशिक्षण के दौरान प्रतिभागियों को रुद्र शिवम डेयरी, भैराणा और कृषि विश्वविद्यालय जोबनेर की प्राकृतिक खेती यूनिट का क्षेत्र भ्रमण भी कराया गया। समापन समारोह में प्रशिक्षण समन्वयक डॉ. बनवारी लाल आसिवाल, डॉ. रामावतार शर्मा, डॉ. रोशन चौधरी, कृषि अधिकारी दिनेश कुमावत सहित अन्य अधिकारीगण और प्रतिभागी उपस्थित रहे।

खेतड़ी में पैंथर का आतंक, एक सप्ताह में पांचवीं घटना से ग्रामीणों में दहशत

जयपुर टाइम्स

खेतड़ी(निसं.) खेतड़ी कस्बे में जंगली जानवरों का आतंक थमने का नाम नहीं ले रहा है। बीती रात वार्ड 21 निवासी किसान बुल्ला राम के बाड़े में बंधी बकरी पर अज्ञात जानवर ने हमला कर दिया, जिससे वह गंभीर रूप से घायल हो गई। प्रत्यक्षदर्शी महिला ने दावा किया कि घटना के समय उसने पैंथर को मवेशी पर हमला करते हुए देखा। यह एक सप्ताह में ऐसी पांचवीं घटना है, जिसने ग्रामीणों में भय का माहौल पैदा कर दिया है। जानकारी के अनुसार रात करीब 1 बजे बकरियों की आवाज सुनकर महिला जागी और शोर मचाया, जिससे आस-पास के ग्रामीण मौके पर पहुंचे। उन्होंने तत्काल वन विभाग को सूचना दी। घटना की जानकारी मिलते ही वनपाल संजय कुमार के नेतृत्व में टीम मौके पर पहुंची और फुटमार्क (पगमार्क) लेकर जांच शुरू की। प्रारंभिक तौर पर ये पैंथर के निशान प्रतीत हो रहे हैं। वन विभाग की टीम के साथ पहुंचे पशु चिकित्सक ने घायल बकरी का उपचार किया। ग्रामीणों ने बताया कि खेतड़ी कस्बे और नगर पालिका क्षेत्र में पिछले कुछ दिनों से जंगली जानवर खुलेआम घूम रहे हैं, जिससे पशुधन को भारी नुकसान हो रहा है। वन विभाग द्वारा वन्यजीव अभ्यारण्य क्षेत्र में केवल 4-5 फीट की चारदीवारी बनाई गई है, जिससे जानवर आसानी से बाहर निकल आते हैं। साथ ही, अभ्यारण्य क्षेत्र में खानपान और पानी की उचित व्यवस्था नहीं होने के कारण जंगली जानवर आबादी वाले क्षेत्रों में प्रवेश कर रहे हैं। ग्रामीणों ने प्रशासन से वन्य क्षेत्र की सुरक्षा व्यवस्था सुदृढ़ करने और किसानों को मुआवजा दिलाने की मांग की है। वनपाल संजय कुमार ने कहा कि मामले की गंभीरता से जांच की जा रही है और वन कर्मियों की विशेष ड्यूटी लगाकर निगरानी बढ़ा दी गई है। जल्द ही उच्च अधिकारियों से वार्ता कर पीड़ित किसान को नियमानुसार मुआवजा दिलवाया जाएगा।

खेतड़ी में न्यायिक कर्मचारी संघ ने विभिन्न मांगों को लेकर किया विरोध प्रदर्शन, कैडर पुनर्गठन करने की मांग

जयपुर टाइम्स

खेतड़ी(निसं.) खेतड़ी न्यायालय परिसर में शनिवार को राजस्थान न्यायिक कर्मचारी संघ ने अपनी विभिन्न मांगों को लेकर विरोध प्रदर्शन किया। इस दौरान उन्होंने राज्य सरकार से प्रस्ताव अनुरूप कैडर के पुनर्गठन की मांग की है। विरोध कर रहे कर्मचारियों ने बताया कि अधीनस्थ न्यायालय व जिला विधिक सेवा प्राधिकरण में कार्यरत आशुलिपिक का कैडर पुनर्गठन राज्य सरकार द्वारा किया जाना था। कर्मचारियों के विभागाध्यक्ष द्वारा प्रस्ताव बनाकर सरकार को आदेश पारित करने के लिए भेजा जा चुका है। राज्य सरकार के दो साल पूर्ण होने के बावजूद भी राज्य सरकार उच्च न्यायालय के प्रस्ताव की पालना नहीं कर रही है। राज्य सरकार द्वारा उच्च न्यायालय के आदेश की अवहेलना करने पर कर्मचारियों द्वारा सामुहिक रूप से अवकाश पर जाने का निर्णय लिया गया है। राज्य सरकार की उदासीनता के चलते न्यायिक कर्मचारी प्रदेश नेतृत्व के आह्वान पर न्यायालय में सामुहिक रूप में कार्य का बहिष्कार कर आंदोलन करने को मजबूर हो गए हैं। उन्होंने बताया कि जब तक सरकार द्वारा कैडर पुनर्गठन को लेकर कोई निर्णय नहीं लिया गया तब तक कर्मचारी सामुहिक रूप में अवकाश पर रहेंगे। इस दौरान न्यायालय की समस्त पत्रावलियों व दस्तावेज की जिम्मेदारी कर्मचारियों की नहीं होगी। उन्होंने बताया कि यदि जल्द ही सरकार ने न्यायिक कर्मचारियों की मांग नहीं मानी तो कर्मचारी उग्र आंदोलन करने को मजबूर हो जाएंगे। न्यायिक कर्मचारियों की सामुहिक अवकाश के चलते न्यायिक कार्य पूरी तरह से प्रभावित हो रहा है। इस मौके पर भवानी सिंह, मनभर , सीताराम बराला, मनोज कुमार, विनोद कुमारी , सुभाष, विनेश कुमार, अमरसिंह, राजेंद्र सिंह, मुरारीलाल, नंदलाल, रामगोपाल, सतीश, रमन सहित अनेक कर्मचारी मौजूद थे।

जिला कलक्टर ने की स्वास्थ्य योजनाओं के क्रियान्वयन की समीक्षा

जिला स्वास्थ्य समिति की बैठक का हुआ आयोजन

जयपुर टाइम्स

जयपुर(कासं.)। जिला कलेक्ट्रेट सभागार में शनिवार को आयोजित जिला स्वास्थ्य समिति की बैठक में जिला कलक्टर डॉ. जितेन्द्र कुमार सोनी ने सभी प्रमुख स्वास्थ्य कार्यक्रमों की गहन समीक्षा की और अधिकारियों को आवश्यक दिशा-निर्देश दिए। बैठक में सर्वप्रथम स्कूल हैल्थ एंड वेलनेस कार्यक्रम पर विस्तार से चर्चा हुई। कार्यक्रम कक्षा 6 से 12 में अध्ययनरत 10-19 वर्ष आयुवर्ग के विद्यार्थियों के शारीरिक, मानसिक, सांस्कृतिक व शैक्षणिक उन्नयन पर आधारित है। कार्यक्रम तृतीय चरण में जयपुर जिले को शामिल किया है। यह कार्यक्रम चिकित्सा विभाग व शिक्षा विभाग के संयुक्त समन्वय से संचालित किया जाएगा। जिला कलक्टर ने संबंधित अधिकारियों को गंभीरतापूर्वक कार्यक्रम संचालित करने के निर्देश दिए। नियमित टीकाकरण कार्यक्रम की समीक्षा के दौरान अध्यक्ष महोदय ने आगामी 14 अगस्त तक आयोजित होने वाले विशेष टीकाकरण अभियान के व्यापक प्रचार-प्रसार हेतु निर्देशित किया। उन्होंने आगामी 24 जुलाई, गुरुवार को जिले में टीकाकरण हेतु विशेष अभियान चलाए जाने के निर्देश दिए। इस हेतु आगामी 22 जुलाई को ब्लॉक स्तरीय जन-जागरूकता रैली आयोजित करने के निर्देश दिए। इसके बाद टीबी मुक्त अभियान के अंतर्गत चर्चा हुई। इस दौरान जिला कलक्टर ने अभियान में उत्तरोत्तर प्रगति किए जाने के निर्देश दिए। गैर संचारी रोग कार्यक्रम पर चर्चा के दौरान उन्होंने शहरी क्षेत्र में अपेक्षित प्रगति लाए जाने के निर्देश दिए। वय- वंदन योजना की प्रगति में असंतोष जाहिर करते हुए अध्यक्ष महोदय ने योजना में लाभार्थियों का अधिकाधिक पंजीकरण किए जाने के निर्देश दिए। बैठक में आभा आईडी, मौसमी बीमारियाँ, एमएनडीवाई / एमएनजेवाई, मुख्यमंत्री आयुष्मान आरोग्य योजना, यूडीआईडी कार्ड प्रगति, एएनसी रजिस्ट्रेशन, राष्ट्रीय बाल स्वास्थ्य कार्यक्रम, परिवार कल्याण कार्यक्रम पर चर्चा हुई। बैठक में मुख्य चिकित्सा एवं स्वास्थ्य अधिकारी (प्रथम) डॉ. रवि शेखावत, मुख्य चिकित्सा एवं स्वास्थ्य अधिकारी (द्वितीय) डॉ. मनीष मित्तल सहित ब्लॉक मुख्य चिकित्साधिकारी, सीएचसी व पीएचसी अधिकारियों सहित जिला स्तरीय अधिकारी मौजूद रहे।

भ्रम पैदा करती भाषा नीति

संपूर्ण भारतीय नेतृत्व और बौद्धिक वर्ग भाषा नीति पर भ्रम का कारण और शिकार, दोनों रहा। इसका निराकरण करने में असमर्थ और अनिच्छुक भी। आज देश के छोटे-छोटे कस्बों में भी देखा जा सकता है कि अग्रगामी शिक्षा, रोजगार और व्यापार की भाषा अंग्रेजी है। अंग्रेजी न जानने वाले भी कामकाजी और व्यवस्थापक हो सकते हैं, पर सीमित स्तर तक। जिसे अपनी बौद्धिक और रचनात्मक क्षमता बढ़ाने की इच्छा है, जो सहज मानवीय आकांक्षा है, वह बिना अंग्रेजी प्रवीणता के विफल रहेगा। यदि कोई भारतीय केवल अंग्रेजी जानता हो और किसी भारतीय भाषा में एक नोट भी लिख न लिख सकता हो, तब भी उसे आगे बढ़ने में कठिनाई नहीं होगी। ऐसा दुनिया के किसी अन्य महत्वपूर्ण देश में नहीं है। भारत में असली राजभाषा अंग्रेजी है। हिंदी को राजनीतिक कारणों से 'राजभाषा' कहकर प्रपंच चलाया जा रहा है। यही मराठी, तमिल या अन्य क्षेत्रीय नेताओं द्वारा हिंदी पर चोट करते रहने...

भारतीय बौद्धिक किसी भी मुद्दे पर लड़ते-उलझते रहने में मशगूल रहते हैं, उसके समाधान की चिंता से निर्लिप्त। कई मुद्दों पर वही तर्क-वितर्क दशकों से सुने जाते हैं, पर मुद्दे की स्थिति जस की तस या बिगड़ती जाती है। भाषा नीति इसका उदाहरण है। अभी अधिकांश विवाद ठाकरे बंधुओं की निंदा पर केंद्रित है। कुछ समय पहले तमिल नेता स्टालिन की फजीहत करने में ही ज्यादा ऊर्जा खर्च हुई थी, जबकि भारत की भाषा नीति विगत आठ दशकों में क्या बनी और क्या हुई, इस पर उदासीनता ही रही है।

ठाकरे बंधु हाल में राजनीतिक मंच पर आए। उनका मात्र एक प्रदेश में थोड़ा प्रभाव है, किंतु इससे पहले क्या था? सच तो यह है कि स्वतंत्र भारत की भाषा नीति शुरू से बिन पतवार की नाव है। औपचारिक रूप से हिंदी 'राजभाषा' है, पर व्यवहार में हर क्षेत्र में सिर्फ अंग्रेजी का स्थान बढ़ता गया। यह उन नीतियों का परिणाम है, जिन्हें किसी अहिंदी नेता ने नहीं बनाया। अंग्रेजी द्वारा हिंदी समेत सभी भारतीय भाषाओं का क्रमशः विस्थापन किसी तमिल या मराठी राजनीति की देन नहीं है, लेकिन इस पर कोई विचार नहीं कर रहा है। संविधान बनने के समय से ही उत्तर भारतीय, मुख्यतः हिंदी-भाषी नेताओं के निर्देशन में ही बहुत कुछ तय होता रहा है, पर उनके द्वारा बनी भाषा-नीति के नतीजों की कभी समीक्षा नहीं हुई कि वह किस उद्देश्य से बनी और परिणाम क्या हुए? भ्रामक भाषा नीति का दोष किसी एक नेता या दल को देना व्यर्थ है। संपूर्ण भारतीय नेतृत्व और बौद्धिक वर्ग भाषा नीति पर भ्रम का कारण और शिकार, दोनों रहा। इसका निराकरण करने में असमर्थ और अनिच्छुक भी। आज देश के छोटे-छोटे कस्बों में भी देखा जा सकता है कि अग्रगामी शिक्षा, रोजगार और व्यापार की भाषा अंग्रेजी है। अंग्रेजी न जानने वाले भी कामकाजी और व्यवस्थापक हो सकते हैं, पर सीमित स्तर तक। जिसे अपनी बौद्धिक और रचनात्मक क्षमता बढ़ाने की इच्छा है, जो सहज मानवीय आकांक्षा है, वह बिना अंग्रेजी प्रवीणता के विफल रहेगा। यदि कोई भारतीय केवल अंग्रेजी जानता हो और किसी भारतीय भाषा में एक नोट भी लिख न लिख सकता हो, तब भी उसे आगे बढ़ने में कठिनाई नहीं होगी। ऐसा दुनिया के किसी अन्य महत्वपूर्ण देश में नहीं है। भारत में असली राजभाषा अंग्रेजी है। हिंदी को राजनीतिक कारणों से 'राजभाषा' कहकर प्रपंच चलाया जा रहा है। यही मराठी, तमिल या अन्य क्षेत्रीय नेताओं द्वारा हिंदी पर चोट करते रहने का भी कारण है। हिंदी का नाहक दोहरा अपमान होता है। इसकी तुलना में ब्रिटिश राज में भाषा-नीति अपेक्षाकृत पारदर्शी और यथार्थपरक थी। शासन की भाषा अंग्रेजी थी, पर केवल अपने लिए। देश के वृहत शिक्षा-संस्कृति क्षेत्र स्वायत्त थे। उसमें शासकीय दखलंदाजी नहीं थी। हर विषय के विद्वान ही उसके शिक्षण-प्रशिक्षण की सामग्री और विधान तय करते थे। ब्रिटिश राज में साहित्यिक, सांस्कृतिक क्रियाकलापों का विकास सचमुच समाज का काम था, सरकार का नहीं। स्वतंत्र भारत में उस क्रियाकलाप का ह्रास आरंभ हो गया। यह ह्रास स्वतंत्र भारत की अपनी नीतियों से हुआ। आज भारत में हिंदी ऐसी पटरानी है, जिससे अन्य सभी रानियां खार खाती हैं और रोज जली-कटी सुनाती हैं। पटरानी असहाय यह सब झेलने को लाचार है। हिंदी को झूठे राजत्व की दोहरी प्रवंचना से मुक्ति देना अच्छा होगा। तब कालक्रम में वह अपना सही स्थान पा लेगी। तब उसे अन्य भारतीय भाषाओं के नेताओं, बौद्धिकों की नाहक कटूक्तियों से छुटकारा मिलेगा। फिर उसे पहले जैसा सद्भाव मिल जाएगा। ब्रिटिश जमाने में हिंदी को राष्ट्रीय कामकाज की भाषा बनाने के सभी प्रयत्न अहिंदी नेताओं, ज्ञानियों ने किए थे। गांधीजी, राजगोपालाचारी, केएम मुंशी, टैगोर आदि महापुरुषों ने हिंदी की क्षमता और भूमिका पहचानी थी, किंतु यह तब था, जब देश में हिंदी वैसी ही एक भाषा थी, जैसी तमिल या तेलुगु थी। आज प्रशासन, शिक्षा और उद्योग व्यापार में अंग्रेजी की महत्ता वैसे भी अबाध बढ़ रही है। शंका हो तो 1963 और 1976 के राजभाषा कानून और नियम की तुलना करके देखें। फिर उसमें 1986, 2007 और 2011 में किए गए संशोधन भी। सभी दिखाते हैं कि स्वतंत्र भारत के सात दशक में अंग्रेजी और हिंदी में ऊंच और नीच की खाई लगातार बढ़ती गई है। आज हर कर्मचारी या छात्र जानता है कि किसी नियम, दस्तावेज, पुस्तक आदि को सही-सही जानना हो तो मूल अंग्रेजी वाली ही पढ़ना ठीक है। वरना ऊटपटांग या गड़बड़ अनुवाद से कुछ भी समझने, करने में व्यर्थ झमेला उठाना पड़ता है। सभी संकेत बताते हैं कि सारे अकादमिक कार्य, प्रकाशन, शोध आदि अंग्रेजी में होते हैं। चाहे उनका स्तर कामचलाऊ या लज्जाजनक क्यों न हो। हिंदी में अब कोई साहित्यिक पत्रिका तक नहीं, जिसे पूरे देश में जाना जाता हो। ऐसा पहले न था।

ब्रिटिश काल और बाद में भी पूर्वगति के बल पर एक पीढ़ी तक राष्ट्रीय महत्व और प्रसार रखने वाली अनेकानेक हिंदी पत्रिकाएं थीं। अब सब बंद हो चुकी हैं। जबकि हिंदी भाषी जनसंख्या अधिक है, शिक्षितों की संख्या और उनकी आय, सबमें भारी वृद्धि हुई है। यह व्यापार-बाजार का सीधा सिद्धांत है जिस चीज की मांग खत्म, उसका उत्पादन-व्यवसाय भी खत्म हो जाता है। अच्छा होगा कि केंद्र की राजभाषा नीति में 'आल्सो इंग्लिश' को बदल कर 'ओनली इंग्लिश' कर दिया जाए। इसके साथ ही सभी राज्य अपनी-अपनी भाषा में ही कार्य करने के लिए स्वतंत्र रहें।

सम्पादकीय

भारत का साफ जवाब, धमकी नहीं चलेगी

इसमें कोई दोराय नहीं कि रूस और यूक्रेन के बीच जारी युद्ध को खत्म करने के लिए सभी जरूरी विकल्पों पर काम होना चाहिए और खासतौर पर इसमें वैसे देशों को अपनी भूमिका का निर्वाह करना चाहिए, जो इसमें अपना कुछ प्रभाव रखते हैं। संभव है कि अमेरिका भी रूस-यूक्रेन युद्ध का अंत ही चाहता हो। मगर जिन देशों से इस युद्ध को खत्म कराने के लिए कुछ करने की उम्मीद की जा रही है, क्या धौंस या धमकी के जरिए उनसे ऐसा करा पाना मुमकिन है? पिछले कुछ समय से अमेरिका के राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप ने अपनी सुविधा के मुताबिक और हित में कई देशों पर शुल्क लगाने या बढ़ाने के विकल्प को एक हथियार के तौर पर इस्तेमाल करना शुरू कर दिया है। इसी क्रम में अब रूस-यूक्रेन युद्ध को रोकने को लेकर भी बेजा दबाव बनाने की कोशिश की जा रही है। गौरतलब है कि उत्तर अटलांटिक संधि संगठन यानी नाटो के महासचिव मार्क रूट ने बुधवार को भारत, चीन और ब्राजील को यह चेतावनी दी थी कि अगर वे रूस के साथ व्यापार करना जारी रखते हैं, तो उन पर प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं। इससे पहले ट्रंप ने भी यह कहा था कि अगर यूक्रेन को लेकर जल्दी ही शांति समझौता नहीं किया गया, तो रूस से सामान खरीदने वाले देशों पर सौ फीसद तक का शुल्क लगाया जाएगा। जाहिर है, यह बहुध्रुवीय विश्व में अन्य देशों को अपनी सुविधा और नीतियों के मुताबिक फैसले लेने की आजादी और संप्रभुता पर डाला जाने वाला एक दबाव है, जिसकी दिशा अमेरिका की इच्छा के हिसाब से संचालित करने की कोशिश की जा रही है। इसलिए भारत ने स्वाभाविक ही प्रतिबंध लगाने की धमकी के खिलाफ सख्त प्रतिक्रिया दी है। भारत ने गुरुवार को इस मामले में 'दोहरे मापदंडों' के प्रति आगाह किया और जोर देकर कहा कि रूस से उसकी ऊर्जा खरीद राष्ट्रीय हितों और बाजार की गतिशीलता पर आधारित है। दरअसल, दिसंबर, 2022 में जब रूसी तेल पर प्रतिबंध लगाया गया था, तब यूरोपीय संघ और अमेरिका ने यह उम्मीद की थी कि इस पाबंदी से रूस की अर्थव्यवस्था पर गंभीर असर पड़ेगा और उसे यूक्रेन के साथ युद्ध को खत्म करने पर मजबूर किया जा सकेगा। मगर तब रूस से भारत और चीन ने तेल की खरीद जारी रखी और यही वजह है कि प्रतिबंध ज्यादा कारगर साबित नहीं हुए। सवाल है कि अगर नाटो और अमेरिका अन्य देशों के नीतिगत मामलों में इस स्तर पर जाकर दखल देना चाहते हैं, तो क्या यह प्रत्यक्ष रूप से दोहरे मापदंड नहीं हैं! राष्ट्रपति बनने के साथ ही ट्रंप ने रूस और यूक्रेन के बीच युद्ध को खत्म कराने के लिए बढ़-चढ़ कर दावे किए थे। मगर अब यह साफ है कि इस दिशा में ट्रंप की कोशिशों का कोई असर नहीं हुआ। उल्टे अमेरिका यूक्रेन को हथियार मुहैया करा रहा है। अब नाटो भारत, चीन और ब्राजील से रूस के राष्ट्रपति को फोन करके शांति वार्ता के लिए गंभीर होने को कह रहा है तो इसके क्या मायने हैं? भारत के पास अपनी ऊर्जा जरूरतें हैं, उपलब्धता के सीमित विकल्प हैं और फिलहाल जो वैश्विक परिस्थितियां बनी हुई हैं, उसी के मुताबिक कदम उठाना होगा।

मानसिक स्वराज भी आवश्यक है

भारतीय शिक्षा को अब भारतीय ज्ञान परंपरा के रूप में ढालने के लिए पहल की जा रही है। इसे लेकर आम आदमी के मन में कुछ सवाल खड़े हो रहे हैं। जैसे भारतीय होने का क्या अर्थ है? जो ज्ञान परंपरा स्वतंत्र भारत में चल रही है, वह किस अर्थ में भारतीय नहीं है या कम भारतीय है? भारतीय ज्ञान परंपरा का स्वरूप क्या है? वह किस रूप में दूसरी ज्ञान परंपराओं से अलग है? इस भारतीय ज्ञान परंपरा की विशिष्टता क्या है, जो हम इसकी ओर मुड़ें? आज के ज्ञान-युग में सामर्थ्यशाली होने के लिए इन पर विचार करना जरूरी है। आखिरकार यह पूरे समाज की मनोवृत्ति, आचरण और देश के सांस्कृतिक अस्तित्व का सवाल है। शिक्षा की दृष्टि से यह एक गंभीर तथ्य हो जाता है कि आज हम आलोचनात्मक रूप से चिंतनहीन और सृजनात्मकता की दृष्टि से पंगु होते जा रहे हैं। राजनीति में आडंबर और मानवीय मूल्य दृष्टि की बढ़ती कमी आज सबको खटक रही है। सामाजिक जीवन के अनेक क्षेत्रों में चिंताएं बढ़ रही हैं। उदाहरण के लिए न्याय व्यवस्था में आज तक अपेक्षित सुधार नहीं लाया जा सका है। नागरिक जीवन से जुड़ी व्यवस्थाएं चाक चौबंद नहीं हैं। ऐसे में शिक्षा पर बहुतों की नजरें टिकी हैं और उसमें सुधार से बड़ी आशाएं जगती हैं। नई शिक्षा नीति के आने के बाद विभिन्न विषयों के पाठ्यक्रम भारतीय ज्ञान-परंपरा में ढल रहे हैं और आमजन के बीच भी इसे लेकर उत्सुकता बढ़ी है, पर शिक्षा में भारतीयता की इस सतही उपस्थिति से आगे बढ़ कर गंभीर और व्यवस्थित रूप इस उपक्रम को अभी तक नहीं मिल सका है। यदि पश्चिम के खर्चीले और अंशत दिशाहीन तथा आयातित ज्ञान को थोपे जाने से मुक्ति की इच्छा है और अपने देश के ज्ञान, कौशल और अस्मिता को बंधक स्थिति से छुड़ाने का मन है तो हमें शिक्षा में बदलाव लाना ही होगा। देश को आत्मनिर्भर बनाने के लिए मानसिक स्वराज जरूरी है और इसके लिए अपनी ज्ञान-व्यवस्था को पुनर्जीवित करना होगा, क्योंकि मानसिक गुलामी कई तरह से देश को आहत करती आ रही है, जिसका बहुतों को पता भी नहीं होता। इसके लिए शिक्षा में भारतीय दृष्टि की विवेकपूर्ण संगति के सिवाय कोई और मार्ग नहीं है। भारत की शिक्षा को भारतीय दृष्टि में स्थापित करना भारत और विश्व, दोनों के ही हित में होगा। ज्ञान-विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विस्तार के पश्चिमी माडल का खोखलापन दिन-प्रतिदिन उजागर हो रहा है। अविरल चलती हिंसा, जलवायु परिवर्तन की बढ़ती मुश्किलें, तीव्र होती गलाकाट प्रतिस्पर्धा, पर्यावरण का भीषण प्रदूषण और मनुष्यता की जगह बाजार का बढ़ता प्रभुत्व ज्ञान के पश्चिमी नेताओं के सोच पर प्रश्नचिह्न लगा रहे हैं। यह सारा विकास मनुष्यता के विनाश का कारण बन रहा है। इसकी जगह भारतीय ज्ञान परंपरा मनुष्य की क्लेशों से मुक्ति की कामना करती है, परंतु खेद की बात यह है कि बहुतों के मन में इस ज्ञान परंपरा की वही अस्पष्ट छवि अभी भी बरकरार है, जो कभी अंग्रेजों ने बनाई थी और जिसे करीब दो सदियों लंबे औपनिवेशिक दौर में भारतीयों ने बहुत हद तक आत्मसात कर लिया है। सच्ची बात यह है कि भारतीय ज्ञान परंपरा ज्ञान-विज्ञान भी है और जीवन-दर्शन भी। भारतीय ज्ञान परंपरा कोई काल में दफन वस्तु नहीं है। यह जीवित है और विकसित भी होती रही है। व्यक्तिवादी, अमूर्त, मात्रात्मक और एकांत अनुशासनों की पक्षधर पश्चिमी ज्ञान परंपरा में सभी विषय स्वतंत्र ढंग से अलग-अलग विकसित हुए हैं। इसके विपरीत भारतीय ज्ञान परंपरा समेकित और अंत क्रियात्मक है। इस प्रतिमान में परस्पर अवलंबन और पूरकता है। न्याय, मीमांसा, आयुर्वेद और योग आदि ज्ञान की सुनम्य विधियों, सुचिंतित तर्क और अनुभव का उपयोग करते हैं और इनके बीच आवाजाही भी है। इस परंपरा में मनुष्य को प्रकृति के दोहन-शोषण का एकाधिकार नहीं है, क्योंकि मनुष्य पर्यावरण और ब्रह्मांड में स्थापित है, न कि उसका केंद्र है। ज्ञान का सामाजिक संदर्भ में स्थित होना और नैतिक मूल्यों पर टिका होना भारतीय ज्ञान परंपरा को आधुनिक विज्ञान की दृष्टि को पूर्णता तक ले जाता है। दुखद है कि शिक्षा नीति-2020 के प्रविधान के बाद भी औपनिवेशिक प्रभाव में पश्चिमी ज्ञान को जहां सार्वभौम माना जा रहा है वहीं भारतीय ज्ञान को स्थानीय मान कर हाशिए पर डाला जा रहा है। न भूलें कि भारतीय ज्ञान परंपराएं पुरावशेष न होकर लोक-जीवन में कई रूपों में सजीव रूप से विद्यमान हैं। पर्यावरण संरक्षण, नैतिक आचरण, औषधीय उपाय तथा सामाजिक-सांस्कृतिक ज्ञान की सामग्री आमजन, जनजातियों और गावों में बिखरी पड़ी हैं।

सृजन का दायरा

साहित्य की दुनिया में इससे एक तरह का जनतंत्र स्थापित हुआ है। मठ टूटे हैं और साहित्य का विस्तार हुआ है। ज्ञान की दृष्टि से रचनाकारों को इससे काफी फायदा हुआ है, उन्हें बहुत कुछ सीखने को मिला है। रचनाकारों को प्लेटफार्म मिला है, भले ही वे गलत-सही कैसा भी लिखें, लेकिन उन्हें लाइक करने वाले या प्रोत्साहन देने वाले मिल ही जाते हैं। इन समूहों का सीधा फायदा यह मिला है कि नए और समर्थ रचनाकारों की पीढ़ी भी सामने आ रही है। सृजन के संसार को नया विस्तार मिला है।

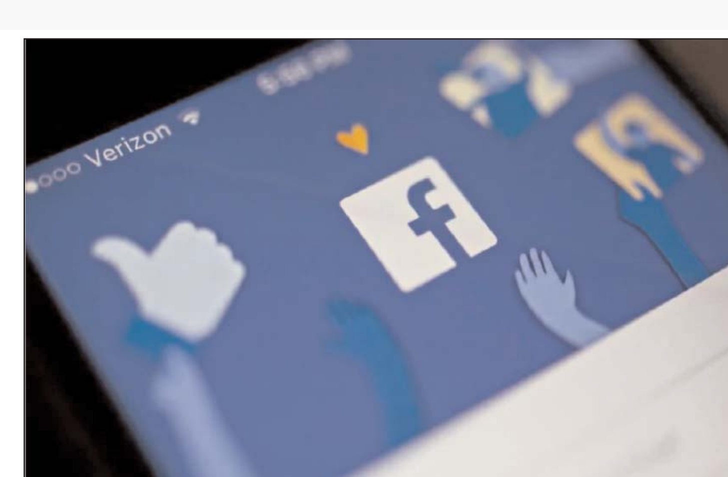

सोशल मीडिया की इन दिनों भारी धूम है। क्या बच्चे, क्या जवान और क्या बूढ़े और गृहिणियांज सब किसी न किसी तरह सोशल मीडिया से जुड़े हुए हैं। भले ही देश में इंटरनेट की पहुंच अभी कई करोड़ लोगों तक सीधे तौर पर न हो, लेकिन कहीं न कहीं इसने आम भारतीय के जीवन को परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करना शुरू कर दिया है। साहित्य अभी तक सिर्फ प्रकाशकों, अखबारों और पत्रिकाओं के संपादक पर निर्भर था। अब वह एक तरह से बंधन मुक्त हो गया है। फेसबुक, वाट्सऐप, ट्विटर आदि ने साहित्य सर्जकों को एक नई आजादी दी है। अपनी रचनाएं लिखें और बिना किसी संपादकीय प्रतीक्षा और सहमति के सोशल मीडिया के माध्यमों पर डाल दें। यहां का संसार आपका अपना है, गुणवत्ता की कोई बंदिश नहीं। कोई रोकने-टोकने वाला नहीं, न आलोचना करने वाला। सोशल मीडिया पर कविता, लघु कथाएं, गजल, छंदबद्ध रचनाएं जैसे कुंडलियों, हाइकू आदि, व्यंग्य, कहानी और आलोचना जैसी विविध विधाओं को आधार बना कर कई समूह बनाए गए हैं। कुछ समूह फेसबुक पर हैं तो कुछ वाट्सऐप पर। माध्यम की अपनी सीमा है, इसलिए फेसबुक पर जो समूह या पेज बने हुए हैं, वे बाकायदा लंबे लेखों आदि को भी शामिल करते हैं। आलोचना और लघु कथाओं, पुस्तक समीक्षा, कहानी आदि के समूह फेसबुक पर अधिक सक्रिय हैं और कविता के अलावा छोटे-छोटे विषयों को लेकर वाट्सऐप पर समूह अधिक कार्य कर रहे हैं। साहित्य की दुनिया में इससे एक तरह का जनतंत्र स्थापित हुआ है। मठ टूटे हैं और साहित्य का विस्तार हुआ है। ज्ञान की दृष्टि से रचनाकारों को इससे काफी फायदा हुआ है, उन्हें बहुत कुछ सीखने को मिला है। रचनाकारों को प्लेटफार्म मिला है, भले ही वे गलत-सही कैसा भी लिखें, लेकिन उन्हें लाइक करने वाले या प्रोत्साहन देने वाले मिल ही जाते हैं। इन समूहों का सीधा फायदा यह मिला है कि नए और समर्थ रचनाकारों की पीढ़ी भी सामने आ रही है। सृजन के संसार को नया विस्तार मिला है। कई बार बड़े लेखक जब आपकी फ्रेंड लिस्ट से हट कर आपकी रचनाओं पर सकारात्मक टिप्पणी करते हैं तो नए लेखकों का हौसला दुगना हो जाता है। साहित्य की दुनिया में कवियों की संख्या सर्वाधिक है। शायद इसी कारण कविता को लेकर कई समूह सोशल मीडिया पर ज्यादा दिखाई देते हैं। इन समूहों पर कच्ची-पक्की और कभी-कभी अचंभित कर देने वाली कविताएं भी दिखाई देती हैं। संपादकीय आग्रहों और पसंद या नापसंद से दूर ये रचनाकारों के स्वयंभू चौपाल हैं, लघुकथा साहित्य और व्यंग्य के लिए भी समूह मौजूद हैं, जहां आप अपने सृजन को बेबाक होकर दुनिया भर के लेखकों या पाठकों के सम्मुख रख सकते हैं। इंटरनेट ने एक तरह का विस्फोट कर दिया है और कलाकारों, समानपेशा धर्मियों, साहित्यकारों ने इसका भरपूर लाभ उठाया है। हालांकि इस दुनिया में सब चमकीला ही हो, ऐसा भी नहीं है। सोशल मीडिया के सामने जो चुनौतियां और सीमाएं हैं, वे यहां भी बरकरार हैं। साहित्य की इस वर्चुअल दुनिया में रचनाओं के चोरी होने, उन्हें अपने नाम से प्रसारित कर देने की घटनाएं आम हैं। कई बार मूल लेखक को पता भी नहीं चल पाता है और कई बार साइबर कानून की व्यापक जानकारी न होने के कारण भी नक्काल छूट जाते हैं। इसके अलावा, परस्पर वाहवाही का मनोरम वातावरण भी यहां पर पसरा हुआ है। कई दिग्गज रचनाकार आज सोशल मीडिया पर उपस्थित हैं। दरअसल, इसकी जन-पहुंच ने उन्हें भी विवश कर दिया है। नामी-गिरामी रचनाकारों का सोशल मीडिया पर आना उसको एक गरिमा ही प्रदान करेगा। सोशल मीडिया पर साहित्य की गुणवत्ता और स्वीकृति ही बढ़ेगी इससे। कई बार नए लेखकों को सही मंच नहीं मिल पाता है। इस दृष्टि से सोशल मीडिया ने उन्हें नई उड़ान दी है। कुछ एक ने अपने आपको मांजा है और निखारा भी है। वहीं कुछ आत्ममुग्धता की स्थिति में भी हैं। लेकिन फिलहाल यह जरूर है कि सोशल मीडिया की साहित्यिक दुनिया में इन दिनों काफी आवाजाही है, गहमागहमी है। हालांकि यहां भी विचारधारा के संघर्ष, परस्पर पसंद-नापसंद, मुद्दों की टकराहट, रूठना-मनाना, गुटबाजी जैसे कार्यक्रम जारी हैं, लेकिन इसके बिना साहित्य ही कैसा, उसका आस्वादन कैसे होगा! इसलिए बदस्तूर साहित्य अपनी तमाम खूबियों, कमजोरियों के साथ उपलब्ध है। संभवत इसका एक कारण यह भी हो कि इंटरनेट की दुनिया में अभी सही मायने में समाजवाद नहीं आया है। बहरहाल, सोशल मीडिया और साहित्य दोनों को एक दूसरे से प्राणवायु मिल रही है, वहां इन दिनों खुशनुमा वातावरण है। यह अलग बात है कि इस तरह के तमाम लेखन का आकलन कैसे किया जाएगा और वह वक्त की कसौटी पर कितना खरा उतरेगा।

भाबरू व जवानपुरा में एक ही रात्रि में 5 जगह चोरी, कई लाखों के जेवरात व बाइक पार

जयपुर टाइम्स

विराटनगर इन दिनों क्षेत्र में बढ़ती हुई चोरी की घटनाओं से आमजन में दहशत का माहौल है ।भाबरू व जवानपुरा में शुक्रवार की रात्रि को अज्ञात चोरों ने जमकर उत्पाद मचाते हुए पांच जगह पर चोरी करते हुए एक बाइक और गहने चुरा ले गए कस्बे में बस स्टैंड पर शुक्रवार को अज्ञात चोरों ने भास्कर संवाददाता पंकज कुमार कौशिक के मकान के मेन गेट का ताला तोड़कर अंदर खड़ी हुई बाइक फैशन प्रो को चुरा ले गए इसी तरह दूसरी जगह ढाणी भीमडा वाली में मोहन कुम्हार जितेंद्र कुम्हार के मकान में अज्ञात चोर मकान की चार दिवारी कूद कर मकान में अंदर घुस गए एवं कमरे का ताला तोड़ते हुए कमरे के अंदर रखी लोहे की अलमारी व लोहे के बक्से में रख दो जोड़ी पाजेब चांदी की, दो जोड़ी कड़ा झांझरिया चांदी का ,एक सटका का चांदी का ,एक छल्ला चांदी का ,सोने का टीका , एक नथ सोने की ,एक सोने का झूमर ,एक चांदी की पेंडल ,दो चुटकी चांदी की, दो सोने की अंगूठी व दो चांदी की अंगूठी और 400 नगद रखे थे बक्से का ताला तोड़कर चोर चोरी कर ले गए तीसरी जगह जितेंद्र कुमार के पड़ोसी गुड्डू राम पुत्र छाजूराम के घर के बाहर रखी लकड़ी की सीडी को दीवार पर लगाकर मकान के अंदर घुस गए और अज्ञात चोरों ने अंदर के दो कमरों में लगे तालों को तोड़कर कमरे में घुस गए एक कमरे में रखे लोहे के बक्से के अंदर एक सोने का मंगलसूत्र ,एक जोड़ी नथ , टीका सोने का ,एक जोड़ी सटका , एक जोड़ी पाजेब चांदी की ,एक अंगूठी चांदी की, एक अंगूठी सोने की ,दो जोड़ी कटला चांदी का ,चौकी चांदी की , एक तगड़ी चांदी की ,एक टिकवाल चांदी की को अज्ञात चोर चुरा कर ले गए इसी तरह जवानपुरा में रामेश्वर पुत्र साधुराम बलाई के मकान में रात्रि को अज्ञात चोरों ने घर का दरवाजा का ताला तोड़कर आंवला , टनका ,नथ, टीका ,पाजेब, तागड़ी और 25000 नगद को अज्ञात चोरों ने चुरा कर ले और पड़ोस में कमला देवी ओमप्रकाश के बंद मकान में अज्ञात चोरों ने ताले तोड़े एक साथ हुई चोरियों से ग्रामीणों में रोष व्याप्त है ग्रामीणों ने प्रशासन से अज्ञात चोरों के खिलाफ कड़ी कार्रवाई करते हुए जल्द ही मामले के खुलासे की मांग की है। बाइक चुरा कर ले जाते समय चोर सीसीटीवी कैमरे में भी कैद हुए है। चोरी के मामले का जल्द ही खुलासा किया जाएगा चोरी की घटना में साइबर सेल की मदद ली गई है आसपास के सीसीटीवी फुटेज लिए जा रहे हैं मामला दर्ज कर लिया गया है अनुसंधान जारी है जल्द ही चोरी की घटना का खुलासा किया जाएगा,ओर कहा थाने में पर्याप्त मात्रा में स्टाफ उपलब्ध नहीं है

अंकित सामरिया थाना प्रभारी भाबरू

महावीर नगर में सीवरेज समस्या का समाधान शुरू, स्थानीय जनप्रतिनिधियों की सक्रियता लाई राहत

जयपुर टाइम्स

जयपुर सांगानेर विधानसभा क्षेत्र के वार्ड 89 स्थित महावीर नगर ङ्क में लंबे समय से चली आ रही सीवरेज जाम और गंदे पानी की निकासी की समस्या को आखिरकार प्राथमिकता पर लिया गया। रेलवे ट्रैक के पास गंदे पानी की निकासी बंद होने और सीवरेज जाम के चलते स्थानीय निवासियों को काफी परेशानी झेलनी पड़ रही थी। समस्या की सूचना मिलते ही जनप्रतिनिधि मौके पर पहुंचे और स्थानीय निवासियों के सहयोग से तत्काल पानी की निकासी का रास्ता खुलवाया गया। इसके साथ ही नगर निगम अधिकारियों को बुलाकर आवश्यक निर्देश दिए गए। अधिकारियों को स्पष्ट रूप से कहा गया कि अगले तीन दिनों के भीतर महावीर नगर की सीवरेज समस्या का स्थायी समाधान किया जाए। स्थानीय लोगों ने जनप्रतिनिधियों की सक्रियता की सराहना करते हुए उम्मीद जताई कि यह समस्या अब स्थायी रूप से हल होगी। यह कार्रवाई मुख्यमंत्री भजनलाल शर्मा की प्रेरणा से की गई, जिनके मार्गदर्शन में क्षेत्र में जनसुनवाई और समस्याओं का त्वरित समाधान प्राथमिकता पर किया जा रहा है।

मुहाना मंडी का स्वागत गहरे गड्ढों और जलभराव से, किसानों और व्यापारियों को भारी परेशानी

जयपुर टाइम्स

सांगानेर एशिया की सबसे बड़ी मंडियों में शुमार सांगानेर की मुहाना मंडी में इन दिनों अव्यवस्थाओं का अंबार लगा हुआ है। मंडी के प्रवेश द्वार पर जगह-जगह गहरे गड्ढे, कीचड़ और जलभराव किसानों, व्यापारियों और आमजन के लिए मुसीबत बन गए हैं। मानसून की पहली ही बारिश ने मंडी प्रशासन की पोल खोल दी है। मुहाना मंडी में रोजाना देशभर से हजारों किसान और व्यापारी फसलें लेकर पहुंचते हैं, लेकिन प्रवेश द्वार पर जमा गंदा पानी, गहरे गड्ढे और फिसलनभरी सड़कें हादसों को न्योता दे रही हैं। भारी सब्जी व फल लदे ई-रिक्शा और ऑटो गड्ढों में पलट जाते हैं। कई बार किसानों को भारी आर्थिक नुकसान उठाना पड़ता है। स्थानीय व्यापारी अजय सैनी ने बताया कि यह समस्या वर्षों से बनी हुई है। हर बार बारिश के साथ हालात और बिगड़ जाते हैं, लेकिन प्रशासन कोई स्थायी समाधान नहीं करता। गड्ढों में पानी भरने से रात के समय दुर्घटनाओं का खतरा और बढ़ जाता है। स्थानीय लोगों ने कई बार संबंधित अधिकारियों को अवगत कराया, लेकिन कोई कार्रवाई नहीं हुई। शासन और प्रशासन से मांग की जा रही है कि मंडी के प्रवेश द्वार की हालत सुधारी जाए और जल निकासी व सड़क मरम्मत का स्थायी हल निकाला जाए, ताकि किसानों और व्यापारियों को राहत मिल सके और उनका व्यवसाय बाधित न हो।

नावां सिटी के मीठड़ी कस्बे में बारिश बनी मुसीबत, मोहल्लों में जलभराव से जनजीवन अस्त-व्यस्त

जयपुर टाइम्स

नावां सिटी मीठड़ी कस्बे में हुई हालिया बारिश ने रेगर मोहल्ला, कुमावत मोहल्ला और गुर्जर मोहल्ला की स्थिति बिगाड़ दी है। सड़कों पर पानी और कीचड़ जमा होने से लोगों का निकलना मुश्किल हो गया है। मंदिर, स्कूल और अस्पताल तक पहुंचने में भारी परेशानी हो रही है। स्कूली बच्चों को कीचड़ भरे रास्तों से गुजरना पड़ रहा है, वहीं बुजुर्ग घरों में कैद होकर रह गए हैं। दुपहिया वाहन चालक असंतुलित होकर गिर रहे हैं और चोटिल हो रहे हैं। मोहल्लेवासियों ने ग्राम पंचायत प्रशासन को कई बार शिकायत दी, लेकिन आज तक कोई ठोस कार्रवाई नहीं की गई। हर बार झूठे आश्वासन देकर लोगों को टाल दिया जाता है। जमीन पर फैले कीचड़ और गंदगी के कारण मच्छरों की तादाद बढ़ गई है, जिससे बीमारियों का खतरा मंडरा रहा है। स्थानीय लोगों ने पंचायत प्रशासन से मांग की है कि जलभराव की समस्या का स्थायी समाधान किया जाए और मोहल्लों की नियमित सफाई एवं नालियों की मरम्मत करवाई जाए, ताकि आमजन को राहत मिल सके।

पौधों को भाई-बहन मान विद्यार्थियों ने लिया संरक्षण का संकल्प, "एक पेड़ माँ के नाम" अभियान के तहत 1200 पौधे वितरित

जयपुर टाइम्स

नावां सिटी मारोठ कस्बे के पीएम श्री ऋषभ चंद जैन गोधा राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय में शनिवार को हरियालो राजस्थान अभियान के तहत "एक पेड़ माँ के नाम" कार्यक्रम का आयोजन किया गया। इस दौरान विद्यालय और अधीनस्थ स्कूलों के विद्यार्थियों को करीब 1200 पौधे वितरित किए गए। संस्था प्रधान केदारमल शर्मा ने बताया कि छात्रों को पौधों को भाई या बहन मानते हुए उनके संरक्षण, नियमित सिंचाई और देखभाल की शपथ दिलाई गई। कार्यक्रम का उद्देश्य छात्रों में पर्यावरण के प्रति संवेदनशीलता और जिम्मेदारी का भाव विकसित करना था। स्टाफ सदस्य विक्रम सिंह कर्णावत ने पौधारोपण के महत्व और प्रक्रिया की विस्तृत जानकारी दी। छात्रों ने भी पौधों की उपयोगिता और पर्यावरण संरक्षण को लेकर अपने विचार साझा किए। कार्यक्रम में मोहन राम, फिरोज लोहार, सायर चंद, जगदीश प्रसाद, छितर मल, आशा देवी और अर्जुन राम सहित विद्यालय स्टाफ की सक्रिय भागीदारी रही। यह आयोजन छात्रों के मन में प्रकृति के प्रति अपनत्व और जिम्मेदारी की भावना जागृत करने की एक अनूठी पहल रहा।

सुमेरपुर में उपखंड स्तरीय जनसुनवाई आयोजित, 40 प्रकरण दर्ज, मंत्री कुमावत ने मौके पर दिए समाधान के निर्देश

जयपुर टाइम्स

सुमेरपुर शनिवार को सुमेरपुर पंचायत समिति के सभागार में उपखंड स्तरीय जनसुनवाई का आयोजन हुआ, जिसमें राजस्थान सरकार के कैबिनेट मंत्री जोराराम कुमावत ने आमजन की समस्याएं सुनीं। जनसुनवाई में कुल 40 प्रकरण दर्ज किए गए, जिनमें बिजली, पानी और सड़क से जुड़े मुद्दे प्रमुख रहे। मंत्री कुमावत ने जनशिकायतों को गंभीरता से लेते हुए संबंधित विभागों के अधिकारियों को मौके पर ही त्वरित समाधान के निर्देश दिए। उन्होंने निराश्रित पशुओं की समस्या पर चिंता जताते हुए ग्राम पंचायत एवं नगर पालिका स्तर पर मॉनिटरिंग की व्यवस्था करने और पशुओं को नजदीकी गोशालाओं में स्थानांतरित करने के निर्देश दिए। बरसात के मौसम को ध्यान में रखते हुए उन्होंने सभी अधिकारियों को अलर्ट मोड पर रहने के निर्देश दिए और अतिवृष्टि से पूर्व तैयारी सुनिश्चित करने की बात कही। उन्होंने 'हरियालो राजस्थान' अभियान के अंतर्गत "एक पेड़ माँ के नाम" योजना को भी क्षेत्र में प्रभावी ढंग से लागू करने का आह्वान किया। जनसुनवाई के दौरान नागरिकों ने शहर में बढ़ती नशाखोरी और मादक पदार्थों की बिक्री पर चिंता व्यक्त की और इस पर सख्त कार्रवाई की मांग की। वहीं, कई पंचायत प्रतिनिधियों ने बजट आवंटन को लेकर भी अपनी समस्याएं सामने रखीं। जनसुनवाई में कैबिनेट मंत्री कुमावत के साथ एसडीएम कालूराम कुम्हार, प्रधान उर्मिला कंवर, पालिकाध्यक्ष ललित रांकावत, तहसीलदार दिनेश आचार्य, विकास अधिकारी प्रमोद दवे, सीओ जितेंद्र सिंह राठौड़ सहित विभिन्न विभागों के अधिकारी, सरपंचगण, जनप्रतिनिधि और बड़ी संख्या में क्षेत्रवासी उपस्थित रहे। मंत्री ने कहा कि सरकार आमजन की समस्याओं के त्वरित समाधान के लिए प्रतिबद्ध है और जनसुनवाई इसका सशक्त माध्यम है।

सुमेरपुर में बेसहारा पशुओं की भरमार बनी जानलेवा चुनौती, नगर पालिका का अभियान साबित हुआ केवल दिखावा

जयपुर टाइम्स

सुमेरपुर सुमेरपुर नगर में बेसहारा पशुओं की समस्या लगातार विकराल रूप लेती जा रही है। नगर पालिका द्वारा हाल ही में दावा किया गया था कि शहर में घूम रहे पशुओं को पकड़ने के लिए विशेष अभियान चलाया गया, जिसमें 12 नंदी पकड़कर गौशाला भेजे गए। लेकिन शहर की सड़कों और चौराहों पर आज भी पशुओं का साम्राज्य बना हुआ है, जिससे आमजन को जान का जोखिम उठाना पड़ रहा है। नगर के प्रमुख चौराहों, गलियों और स्कूलों के आसपास गाय, नंदी, बछड़ों के झुंड खुलेआम घूमते नजर आते हैं। इन पशुओं पर न कोई टैग है और न ही कोई पहचान। कई बार बीच सड़क पर बैठे ये पशु हादसों की वजह बनते हैं, जिसमें अब तक कई लोग जान गंवा चुके हैं और कई परिवार उजड़ चुके हैं। नगर पालिका की कार्रवाई मात्र एक दिन की खानापूर्ति साबित हुई। प्रशासनिक उदासीनता और पशुपालकों की लापरवाही मिलकर समस्या को और गंभीर बना रही है। कई पशुपालक गायों को सड़क पर खुला छोड़ देते हैं, जिससे उनकी जिम्मेदारी से भी सवाल उठते हैं। हाल ही में हुई उपखंड स्तरीय जनसुनवाई में भी यह मुद्दा प्रमुखता से उठाया गया। लोगों ने कैबिनेट मंत्री जोराराम कुमावत से इस पर ठोस कार्रवाई की मांग की। गौरतलब है कि सुमेरपुर मंत्री कुमावत का गृहक्षेत्र है, ऐसे में क्षेत्रवासी उम्मीद कर रहे हैं कि वे इस गंभीर मुद्दे पर संज्ञान लेकर स्थायी समाधान सुनिश्चित करेंगे। सड़क हादसों के पीछे बड़ी वजह बने यह पशु, न केवल नागरिकों बल्कि स्वयं पशुओं के लिए भी खतरा हैं। उन्हें अक्सर वाहन टक्कर मार देते हैं जिससे वे घायल हो जाते हैं। अब जरूरत है कि गौशालाओं का बेहतर प्रबंधन, सख्त जुर्माना, और प्रभावी निगरानी व्यवस्था अपनाकर इस समस्या का मानवीय और व्यावहारिक समाधान निकाला जाए।

सेवानिवृत्त डीजी डॉ. रवि प्रकाश मेहरडा का खेतड़ी में होगा भव्य सम्मान समारोह

जयपुर टाइम्स

खेतड़ी(निसं.) राजस्थान पुलिस के सेवानिवृत्त महानिदेशक और भ्रष्टाचार निरोधक ब्यूरो (एसीबी) के पूर्व महानिदेशक डॉ. रवि प्रकाश मेहरडा का आज खेतड़ी में भव्य सम्मान समारोह आयोजित किया जाएगा। यह समारोह उनके सेवानिवृत्ति के बाद प्रथम खेतड़ी आगमन पर आयोजित किया जा रहा है, जहां खेतड़ी अंचल की जनता उन्हें सम्मानित कर गौरवान्वित महसूस करेगी। कार्यक्रम का आयोजन अम्बेडकर सामुदायिक भवन, भोपालगढ़ रोड, खेतड़ी में किया जाएगा। समारोह की जानकारी देते हुए डॉ. मेघवंशी विकास संस्थान के संरक्षक श्रवण दत्त नारनौलिया ने बताया कि इस अभिनंदन समारोह में समाज के विभिन्न वर्गों के गणमान्य नागरिक, सामाजिक कार्यकर्ता, छात्र-छात्राएं और आमजन बड़ी संख्या में उपस्थित रहेंगे। डॉ. रवि प्रकाश मेहरडा का जन्म खेतड़ी अंचल में हुआ था और उन्होंने अपने 35 वर्षों के सेवाकाल में राजस्थान कैडर के विभिन्न महत्वपूर्ण पदों पर कर्मठता, निष्ठा और पारदर्शिता से कार्य किया। पुलिस सेवा के दौरान उन्होंने प्रदेश में सुशासन, कानून व्यवस्था और भ्रष्टाचार के विरुद्ध सशक्त कार्यवाही से आमजन में पुलिस के प्रति विश्वास को मजबूत किया। सम्मान समारोह के दौरान उनके पुलिस सेवा में उल्लेखनीय योगदान को याद करते हुए वक्ता उनके जीवन और कार्यशैली से प्रेरणा लेने का संदेश देंगे। डॉ. मेहरडा को पुलिस सुधारों, संवेदनशील कार्यप्रणाली और समाज हित में किए गए प्रयासों के लिए व्यापक सराहना मिली है। यह सम्मान समारोह न केवल खेतड़ी अंचल के गौरव का प्रतीक है, बल्कि युवाओं को प्रेरित करने वाला एक ऐतिहासिक अवसर भी सिद्ध होगा।

नावां सिटी में लायंस क्लब का 54वां पदस्थापन समारोह सम्पन्न, 'सबका साथ-सबका सम्मान' को बताया लायनिज्म का मूल मंत्र

जयपुर टाइम्स

नावां सिटी लायंस क्लब नावां सिटी का 54वां पदस्थापन समारोह शनिवार शाम सरला बिरला कल्याण मण्डपम् में हर्षोल्लास के साथ सम्पन्न हुआ। समारोह का शुभारंभ कुचामन गौशाला बीड़ में 40 पौधों के सजन वृक्षारोपण कार्यक्रम के साथ हुआ, जिसमें टी-गार्ड सहित पौधे लगाए गए। मुख्य समारोह की शुरूआत एनएसएस ट्रूप के मार्चपास्ट और दीप प्रज्वलन के साथ हुई। समारोह के मुख्य अतिथि उपगवर्नर प्रथम लायन निशांत जैन ने अपने वक्तव्य में कहा कि 'सबका साथ-सबका सम्मान' ही सच्चा लायनिज्म है। मंच पर निवर्तमान प्रांतपाल लायन श्यामसुंदर मंत्री, अध्यक्ष मनोज अग्रवाल, सचिव लायन कृष्णकुमार, कोषाध्यक्ष लायन संजय रांका, ट्रस्ट अध्यक्ष नरेन्द्र शर्मा व अन्य पदाधिकारी उपस्थित रहे। लायन डॉ. प्रगति मदान के ध्वज वंदन और राष्ट्रगान के साथ कार्यक्रम की औपचारिक शुरुआत हुई। क्लब सचिव ने वर्ष 2024-25 की सेवाओं का ब्यौरा दिया और अध्यक्ष ने सभी सदस्यों एवं दानदाताओं का आभार जताया। कार्यक्रम में भामाशाह के रूप में लायन मनोज काबरा, श्यामसुंदर मंत्री, दलपत सिंह रूणिचा, आर.पी. मालपाणी, जुगलकिशोर कनोई, निर्मल गंगवाल और दामोदरलाल झंवर को स्मृति चिन्ह भेंट कर सम्मानित किया गया। लायन निशांत जैन ने नए अध्यक्ष बाबूलाल मांधनिया और सचिव डॉ. नितिक मदान सहित सभी पदाधिकारियों को शपथ दिलाई। अध्यक्ष को राम-सीता की मूर्ति भेंट कर सेवा में मर्यादा और समर्पण का संकल्प दिलाया गया। कार्यक्रम का समापन लायन नरेन्द्र शर्मा के धन्यवाद ज्ञापन के साथ हुआ। समारोह में शहर के अनेक गणमान्य नागरिक, पत्रकार, व सेवा कार्यकर्ताओं की उपस्थिति रही।

जैसलमेर में कांग्रेस सांसद-विधायक की थानाधिकारी से धक्का-मुक्की, पुलिस ने बैरिकेडिंग लगाकर रोका

जयपुर टाइम्स

जैसलमेर (निसं) जैसलमेर के बासनपीर जा रहे कांग्रेस सांसद उम्मेदाराम बेनीवाल और विधायक हरीश चौधरी को पुलिस ने रोक लिया। सांसद-विधायक की शिव थानाधिकारी सत्यप्रकाश से बहस हो गई। सांसद-विधायक ने समर्थकों के साथ थानाधिकारी से धक्का-मुक्की की। दरअसल, जैसलमेर-बाड़मेर सांसद और बायतु विधायक ने बासनपीर में गांधी रामधुन और सर्वधर्म प्रार्थना के लिए जैसलमेर प्रशासन से परमिशन मांगी थी। हालांकि जिला प्रशासन ने परमिशन नहीं दी थी। प्रशासन ने वहां धारा 163 लागू कर दी थी। शनिवार को सांसद-विधायक अपने समर्थकों के साथ बासनपीर के लिए रवाना हुए। पुलिस ने 100 किलोमीटर पहले फतेहगढ़ में उन्हें रोक लिया। सांसद और विधायक बैरिकेडिंग के पास पहुंचे और पुलिस को रोकने का कारण पूछा। इस पर वहां मौजूद थानाधिकारी ने लॉ एंड ऑर्डर का हवाला दिया और आगे जाने से मना कर दिया। इस बात पर दोनों की पुलिस के साथ बहस हो गई। सांसद और विधायक ने समर्थकों के साथ थानाधिकारी से धक्का-मुक्की की। मध्यप्रदेश प्रभारी और बायतु विधायक हरीश चौधरी ने कहा था- जिस तरह से हमारे थार के इस भाईचारे और अपणायत में जहर को घोला जा रहा है। इस इलाके में जिनकी ओर से नफरत फैलाई है। हम वहां मोहब्बत की दुकान लगाएंगे। उन्होंने कहा था कि इस मामले में सत्ताधारी लोगों की ओर से प्रशासन पर दबाव बनाकर जिस तरह से भेदभाव पूर्ण और एकतरफा माहौल बनाया जा रहा है जो दुर्भाग्यपूर्ण है। बासनपीर में छतरियों के निर्माण को लेकर बीते करीब 6 साल से विवाद चल रहा है। साल 2019 में एक टीचर ने सफाई करवाने के दौरान छतरी को तोड़ने का काम किया था। इसके बाद इस मामले में झुंझार धरोहर बचाओ संघर्ष समिति ने इस कृत्य के खिलाफ विरोध किया था।

इस बीच झुंझार धरोहर बचाओ संघर्ष समिति, हिंदू संगठनों सहित आमजन ने जिलेभर में आंदोलन किया गया था। साल 2021 में कृष्ण जन्माष्टमी के मौके पर 2 पक्षों से बातचीत के बाद प्रशासन की मौजूदगी में काम शुरू हुआ था। लेकिन, फिर तनाव के माहौल के चलते प्रशासन के आग्रह पर काम रोका गया था। 10 जुलाई को यहां छतरियों के पुनर्निर्माण पर विवाद हो गया था। दो पक्षों में पथराव हुआ था। इसके बाद भाजपा विधायक ने धरना दिया था और वहां मौजूद रहकर छतरियों का निर्माण कराया था।

प्रशासनिक फेरबदल, 91 आईपीएस के किए ट्रांसफर

जयपुर टाइम्स

जयपुर(कासं.)। भजनलाल सरकार ने शनिवार देर रात बड़ी संख्या में प्रशासनिक अधिकारियो के ट्रांसफर किए हैं। पुलिस सेवा से लेकर प्रशासनिक सेवा तक में व्यापक स्तर पर बदलाव किया गया है। बीते महीने 62 आईएएस अफसरों के ट्रांसफर के बाद अब राजस्थान के पुलिस मकहमे में बड़ा फेरबदल देखने को मिला है. भजनलाल सरकार ने शनिवार को कुल 91 आईपीएस अफसरों के ट्रांसफर किए हैं. कार्मिक विभाग की ओर जारी तबादला सूची से कई जिलों के पुलिस अधीक्षक बदल गए हैं। इसके अलावा कार्मिक विभाग ने शनिवार को 12 आईएएस अधिकारियों के भी ट्रांसफर किए हैं।

इन जिलों के पुलिस अधीक्षक बदले

राशी डोगरा डुड्डी (2012) -पुलिस अधीक्षक, जयपुर ग्रामीणममता गुप्ता (2012) - पुलिस अधीक्षक, राजसमंदपूजा अवाना (2012)- पुलिस अधीक्षक, पालीओम प्रकाश मीना (2012)- पुलिस अधीक्षक, डीगदेवेंद्र बिश्नोई (2012)- पुलिस अधीक्षक, कोटपूतली-बहरोड़नारायण टोगस (2012)- पुलिस अधीक्षक, जोधपुर ग्रामीणतेजस्वनी गौतम (2012)- पुलिस अधीक्षक, कोटा शहरमनीष त्रिपाठी (2013- पुलिस अधीक्षक, चित्तौड़गढ़सुधीर जोशी (2013- पुलिस अधीक्षक, बांसवाड़ाअनिल कुमार (2014- पुलिस अधीक्षक, सवाईमाधोपुरसुधीर चौधरी (2015- पुलिस अधीक्षक, अलवरमृदुला कछावा (2015- पुलिस अधीक्षक, नागौरलोकेश सोनवाल (2015- पुलिस अधीक्षक, करौलीरतन सिंह (2015)- पुलिस अधीक्षक, ब्यावरप्यारे लाल शिवरान (2015)- पुलिस अधीक्षक, सिरोहीडॉ. अमृता दुहन (2016)- पुलिस अधीक्षक, श्रीगंगानगरराजेश कुमार मीणा (2016)- पुलिस अधीक्षक, टोंकरिचा तोमर (2016)- पुलिस अधीक्षक, डीडवाना-कुचामनदिंगत आनंद (2016)- पुलिस अधीक्षक भरतपुरशैलेंद्र सिंह इंदोलिया (2017)- पुलिस अधीक्षक, जालोरविकास सांगवान (2018)- पुलिस अधीक्षक, धौलपुरअमित कुमार (2018)- पुलिस अधीक्षक, झालावाड़कुंदन कंवरिया (2018)- पुलिस अधीक्षक, फलौदीबृजेश ज्योति उपाध्याय (2019)- पुलिस अधीक्ष झुंझुनूंप्रवीण नायक नूनावत (2019)- पुलिस अधीक्षक, सीकरअभिषेक शिवहरे (2020)- पुलिस अधीक्षक, जैसलमेररमेश (2020)- पुलिस अधीक्षक, बालोतराप्रशांत किरण (2021)- पुलिस अधीक्षक, भिवाडीबी आदित्य (2021)- पुलिस अधीक्षक, प्रतापगढ़अभिषेक अंडासु (2021)- पुलिस अधीक्षक, बारांमनीष कुमार (2021)- पुलिस अधीक्षक, डूंगरपुर

न्यायिक कर्मचारी सामूहिक अवकाश पर बैठे

जयपुर टाइम्स

तारानगर(निस) पुनर्गठन आदेश लागू कराने की मांग को लेकर तारानगर के राजस्थान न्यायिक कर्मचारी संघ न्यायालय परिसर में शनिवार को अनिश्चितकालीन सामूहिक अवकाश पर बैठे। कर्मचारियों का कहना हैं कि ज़ब तक हमारी मांग पूरी नहीं होती हैं, तब तक हमारा अनिश्चितकालीन सामूहिक अवकाश जारी रहेगा। इस दौरान कर्मचारियों ने कर्मचारी एकता जिंदाबाद के नारे भी लगाए। इस मौके पर रीडर सुरेश कुमार चेजारा, धर्मेन्द्र सिँह, सतपाल सिँह करणावत, गोपीराम, मुकेश कुमार, विजयपाल, सिँह, सुरेन्द्र, इंद्राज पूनियाँ, अशोक कुमार, घनश्याम, प्रदीप भाटी आदि सामूहिक अवकाश पर बैठे।

थोई पुलिस ने कि अपराधियों के खिलाफ कार्रवाई, चार गिरफ्तार

जयपुर टाइम्स

कांवट(निस)। पुलिस थाना थोई ने अपराधियों के खिलाफ कानूनी कार्रवाई करते हुए न्यायालय में विचाराधीन विभिन्न मामलों में स्थाई व अस्थाई वारंटियों के खिलाफ कानूनी कार्रवाई कर गिरफ्तार किया है। थाना प्रभारी अधिकारी मुकेश कुमार ने बताया कि उच्च अधिकारियों के निर्देश पर थाना थोई पुलिस टीम ने एक स्थाई वारंटी को व तीन वारंटियों को गिरफ्तार कर एक हिस्ट्रीशीटर अपराधी से पूछताछ की गई। गिरफ्तार अपराधियों में हिस्ट्रीशीटर संदीप सोलेत उर्फ सुखा सुटर पुत्र कालूराम जाट निवासी प्रीतमपुरी से पूछताछ कर एचएस पत्रावली नोट की गई। स्थाई गिरफ्तार वारंटियों में अमित कुमार पुत्र सुभाष शर्मा निवासी बामल्डा जोड़ा झाड़ली, गिरफ्तार वारंटी में कृष्ण कुमार उर्फ नींबू पुत्र सुल्तान गुर्जर निवासी लाम्बा की ढाणी प्रीतमपुरी, सांवरमल पुत्र नाथूराम जाट निवासी लोहरवाड़ा, रामनारायण पुत्र छोटू राम यादव निवासी रामपुरा थोई और निस्तारण गिरफ्तार वारंटी नवीन यादव पुत्र रामावतार यादव निवासी शिमला खेतड़ी जिला झुंझुनू के खिलाफ कार्रवाई की।

छात्रसंघ चुनाव की मांग, एसएफआई ने सौंपा ज्ञापन

जयपुर टाइम्स

सुजानगढ़(नि.सं.)। राजकीय सुजला महाविद्यालय की प्राचार्य को छात्रसंघ चुनाव करवाने की मांग को लेकर उच्च शिक्षा मंत्री के नाम ज्ञापन सौंपा गया है। ज्ञापन में बताया गया है कि एक तरफ सरकार उच्च शिक्षा में सुधार की बात कर रही है, उन्हें सुधार के नाम पर प्रदेश में सोसाइटी एक्ट के तहत खोले गए महाविद्यालय में एक भी स्थाई स्टाफ नहीं है। सभी महाविद्यालय विद्या संभाल के भरोसे चल रहे हैं। सरकार छात्र संघ चुनाव को शिक्षा व्यवस्था के सुधार में रोड़ा मान रही है, तो यह सरकार लोकतंत्र में युवाओं की भागीदारी को सुनिश्चित करने वाली पहली सीढ़ी को तोड़ रही है, छात्रसंघ चुनाव की घोषणा सरकार जल्द से जल्द करे। ज्ञापन सौंपने के दौरान एस एफ आई कार्यकर्ता अमित दूधवाल, सुशांत पारीक, रमेश प्रजापत, हेमंत सैन, चंदन सिंह, पियूष, नवरत्न बिस्सु, वर्षा मेघवाल, देवकरण चौहान आदि उपस्थित रहे। एस. एफ. आई. इकाई संयोजक नारायण शर्मा ने यह जानकारी दी।

भाजपा-कांग्रेस नेताओं में जुबानी जंग तेज

जयपुर टाइम्स

सुजानगढ़.(नि.सं.)। भाजपा नेता राजकुमार तंवर ने उप सभापति अमित मारोठिया पर नलिया बास में जलभराव की समस्या का स्थायी समाधान नहीं करने के आरोप लगाए। तंवर ने कहा कि उप सभापति रहने के दौरान भी मारोठिया जनता की बडी समस्या का स्थायी समाधान नहीं कर पाए, जिसके कारण लोग परेशान हैं। तंवर ने अन्य वार्डों के विकास कार्यों में बाधा पहुंचाने के आरोप मारोठिया पर लगाए। वहीं इसका प्रत्युतर देते हुए उप सभापति अमित मारोठिया ने कहा कि मुझे जनता के काम करने से मतलब है। नलिया बास में पांच वार्डों का पानी एकत्रित होता है और यहां पानी तोड़ने के लिए मैं व्यक्तिगत रूप से दिनरात एक करके मेहनत करता हूं। अगर कोई सरकारी उपकरण नहीं भी होता है, तो निजी खर्चे से मरम्मत आदि की व्यवस्था करता हूं। मारोठिया ने कहा कि ड्रेनेज की आने वाली स्कीम में नलिया बास शामिल है, जिससे समस्या का स्थायी समाधान होगा। उन्होंने कहा कि मैं स्वच्छ राजनीति करने वाला व्यक्ति हूं।

न्यायिक कर्मचारी सामूहिक अवकाश पर, विरोध प्रदर्शन कर धरना दिया

जयपुर टाइम्स

सरदारशहर(निस)। शहर के न्यायालय परिसर में शनिवार को राजस्थान न्यायिक कर्मचारी संघ के बैनर तले न्यायालय के न्यायिक कर्मचारी अपनी मांगों को लेकर सामूहिक अवकाश पर चले गए। न्यायिक कर्मचारियों के सामूहिक अवसर पर जाने से न्याय के लिए न्यायालय में आने वाले लोगों को परेशानियों का सामना करना पड़ा। वहीं अपनी विभिन्न मांगों को लेकर न्यायिक कर्मचारियों की ओर से न्यायालय परिसर में सरकार के खिलाफ नारेबाजी करते हुए अपना विरोध जताते हुए अनिश्चितकालीन सामूहिक अवकाश मांग नहीं मानने तक जारी रखने का आह्वान किया। न्यायिक कर्मचारी संघ के तहसील प्रभारी विक्रम भाटी ने बताया कि 2023 में न्यायालय की ओर से सरकार को प्रस्ताव बना कर भेज दिया गया था। लेकिन सरकार की ओर से 2 साल बीतने के बाद भी आज तक न्यायिक कर्मचारियों की मांगों पर संज्ञान नहीं लिया है। जिसको लेकर राज्य स्तरीय आह्वान पर न्यायालय परिसर में सामूहिक अवकाश पर जाकर धरना प्रदर्शन किया जा रहा है। एसडीम

डॉ दिव्या चौधरी को मुख्यमंत्री के नाम ज्ञापन देकर सरकार से हमारी मांगों पर संज्ञान लेने के लिए आह्वान किया गया है। जब तक सरकार की ओर से हमारी मांगों पर संज्ञान नहीं लिया जाएगा हमारा सामूहिक अवकाश जारी रहेगा। एडवोकेट दिलीप सिंह पवार ने बताया कि न्यायिक कर्मचारियों के सामूहिक अवकाश पर जाने से न्यायालय परिसर में न्याय के लिए आने वाले लोगों को काफी परेशानियों का सामना करना पड़ा है। सरकार से हमारी मांग है कि न्यायिक कर्मचारियों की समस्या का समाधान शिघ्र करें जिससे लोगों को आगे कोई समस्या नहीं नहीं हो। इसको लेकर सरकार जल्द न्यायिक कर्मचारियों की मांगों पर संज्ञान लेकर इनका समाधान करें। धरने पर मीडिया प्रभारी अमित लाटा, रामनिवास बालाण, श्रवण सैनी, रवि शंकर रंगा, कृष्ण कुमार सिहाग, सवाई मिश्रा, रवि शंकर, राधे वल्लभ, मदन सिंह, शेरसिंह, भैराराम, प्रियंका, शुभम, दिलीप कुमार, गिरधारी लाल, अशोक पारीक, एडवोकेट श्रवण सिंह, कुंदन सिंह, राजेंद्र सिंह आदि उपस्थित रहे।

फिर आ रहा है फोटोग्राफी का महकुंभ, 30 तक कर सकेंगे आवेदन

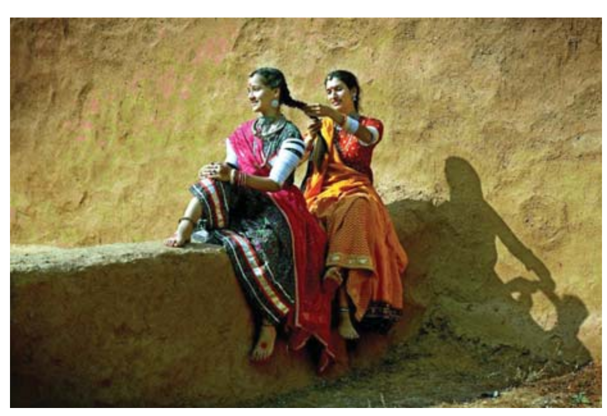

24 से 26 अगस्त तक होगा तीन दिवसीय नजर फोटोग्राफी एग्जिबिशन का आयोजन

जयपुर टाइम्स

जयपुर(कासं.) राजस्थान फोटो फेस्टिवल के तहत जयपुर में एक बार फिर बहुप्रतीक्षित "फोटोग्राफी महाकुंभ" "नजर फोटो एग्जिबिशन" का आयोजन किया जा रहा है। जवाहर कला केन्द्र में एग्जिबिशन का चौथा सीज़न 24 से 26 अगस्त तक होगा। यह तीन दिवसीय भव्य आयोजन भारतवर्ष के फोटोग्राफी प्रेमियों और पेशेवरों के लिए एक अनूठा मंच प्रदान करेगा। यह आयोजन अपनी विशालता और विविधता के लिए जाना जाता है, जिसमें 300 से अधिक प्रतिभागी और 600 से अधिक उत्कृष्ट तस्वीरें प्रदर्शित की जाती हैं। यह एकमात्र ऐसा फेस्टिवल है जहां प्रशासनिक अधिकारियों से लेकर भारतवर्ष के फोटो पत्रकार, वाइल्डलाइफ फोटोग्राफर, डॉक्टर, फोटोग्राफी के छात्र और पेशेवर फोटोग्राफर भी हिस्सा लेते हैं। यह राजस्थान की सबसे बड़ी एग्जिबिशन हे।इसमें कई देशों और कई राज्यों के कलाकार अपनी प्रतिभागिता दर्ज करवा चुके हैं। इस प्रदर्शनी में मोबाइल फोन से खींचे गए फोटो को भी प्रदर्शित किए जाते हैं। फोटोग्राफी से जुड़े विभिन्न विषयों पर टॉक सेशन भी आयोजित किए जाएंगे, जहां अनुभवी फोटोग्राफर अपने ज्ञान और अनुभव साझा करेंगे। इच्छुक प्रतिभागी 30 जुलाई, 2025 तक अपना आवेदन nazarphotoe&hibition@gmail.com पर भेजकर पंजीकरण कर सकते हैं।

जयपुर में एजीटीएफ की सूचना पर जालूपुरा पुलिस का बड़ा एक्शनः अवैध सिम, एटीएम कार्ड का पार्सल जब्त

मोबाइल नंबर के आधार पर पुलिस जुटी जांच में, महाराष्ट्र में सप्लाई होना था पार्सल

जयपुर टाइम्स

जयपुर(कासं.)। राजस्थान पुलिस की एंटी गैंगस्टर टास्क फोर्स की सूचना पर जयपुर में एक बड़ी कार्रवाई को अंजाम दिया है। जालूपुरा थाना पुलिस ने एक कोरियर पार्सल जब्त किया है, जिसमें बड़ी संख्या में अवैध मोबाइल सिम कार्ड, एटीएम कार्ड और बैंक पासबुक जैसी संदिग्ध वस्तुएं मिली हैं। यह पार्सल महाराष्ट्र भेजा जा रहा था और माना जा रहा है कि इसका इस्तेमाल अपराधिक गतिविधियों में किया जाना था। अतिरिक्त महानिदेशक पुलिस एंटी गैंगस्टर टास्क फोर्स, दिनेश एमएन के निर्देशन और उप महानिरीक्षक पुलिस योगेश यादव व सिद्धांत शर्मा के सुपरविजन में एक विशेष टीम गठित की गई। इस टीम का नेतृत्व इंस्पेक्टर राम सिंह नाथावत ने किया। एडीजी एमएन ने बताया कि एजीटीएफ से मिली विशेष सूचना के आधार पर जालूपुरा थाना पुलिस ने तुरंत कार्रवाई शुरू की। पुलिस को जानकारी मिली थी कि पोलोविक्ट्री स्थित जैन पार्श्वनाथ ट्रेवल्स से एक संदिग्ध पार्सल नागपुर भेजा जा रहा है, जिसमें अवैध सिम और एटीएम कार्ड हो सकते हैं। सूचना मिलते ही पुलिस टीम ने तुरंत ट्रेवल्स पर दबिश दी। ट्रेवल्स कर्मचारी बलवंत सिंह बैढ़ा ने बताया कि पार्सल 16 जुलाई को "विजय सण्डे नागपुर" के नाम से बुक किया गया था और बस खराब होने के कारण अभी वहीं रखा है। भेजने वाले ने इसे मकान की रजिस्ट्री के कागजात बताया था।

करोड़ों की ठगी का अंदेशा, पुलिस जांच जारी

स्वतंत्र गवाहों की मौजूदगी में जब पार्सल खोला गया, तो पुलिस टीम हैरान रह गई। पार्सल के अंदर एक कैरी बैग में बैंक ऑफ महाराष्ट्र की 3 असली सेविंग बैंक पासबुक, बैंक ऑफ महाराष्ट्र के 3 RuPay डेबिट कार्ड और इंडियन ओवरसीज बैंक के 6 Classic Debit Prepaid RuPay कार्ड मिले। इसके अलावा, 4 मोबाइल सिम के खाली रैपर कार्ड और विभिन्न बैंकों की निर्देशिका पुस्तिका वाले लिफाफे भी जब्त किए गए। पुलिस को संदेह है कि गरीब और सीधे-सादे लोगों के नाम पर फर्जी बैंक खाते, सिम डेबिट कार्ड जारी करवाये गए है। जिनका इस्तेमाल अपराधिक गतिविधियों और साइबर ठगी में किया जा रहा था। यह एक बड़े क्राइम सिंडिकेट का हिस्सा हो सकता है। इस मामले में भारतीय न्याय संहिता की धाराओं के तहत अपराध पंजीबद्ध किया गया है। पुलिस ने सभी जब्त दस्तावेजों और ट्रेवल्स की मूल बिल्टी को जांच के लिए अपने कब्जे में ले लिया है। इस रैकेट के पीछे कौन है और यह कितने बड़े पैमाने पर फैला हुआ है, इसकी विस्तृत जांच की जा रही है। पुलिस अब इस रैकेट के मास्टरमाइंड तक पहुंचने के लिए सीसीटीवी फुटेज की पड़ताल और मोबाइल नंबरों के आधार पर गहन जांच में जुटी है। इस सफल कार्रवाई को अंजाम देने वाली टीम में इंस्पेक्टर राम सिंह नाथावत के नेतृत्व में हेड कांस्टेबल हेमंत शर्मा (जिनकी सूचना पर यह कार्रवाई की गई), उप निरीक्षक प्रताप सिंह, सहायक उप निरीक्षक बनवारी लाल, हेड कांस्टेबल महेश सोमरा, महावीर, देवेंद्र, कांस्टेबल गंगाराम, गोपाल धाबाई, विजय सिंह और जितेंद्र कुमार के साथ थाना जालूपुरा की उपनिरीक्षक माया मीणा और उनकी टीम का भी विशेष योगदान रहा।

सुक्षेम आरोग्य विहार के लिए मिट्टी भराव कार्य शुरू

जयपुर टाइम्स

सुजानगढ़(नि.सं.)। क्षेत्रवासियों के लिए बड़ी खुशखबरी है। निकटवर्ती क्षेत्र और प्रस्तावित वार्ड न. 48 अर्थात् ठरड़ा क्षेत्र में बनने वाले सुक्षेम आरोग्य विहार अस्पताल के लिए मिट्टी भराव का काम शुरू हो गया है। पिछले काफी दिनों से इस जमीन पर तारबंदी और रास्ते की सड़कें निकाले जाने का काम चल रहा था। जिसके पूरे होने के बाद यहां पर तीन चार दिनों से डंपरों से मिट्टी भराव किए जाने का काम जोरों पर है। ठरड़ा के लोगों ने बताया कि कुछ लोग झूठी खबरें फैलाकर स्टे की जानकारी देकर लोगों में मतिभ्रम की स्थित पैदा करने का कुप्रयास कर रहे हैं। लेकिन ठरड़ा में 200 बैड के प्रस्तावित अस्पताल का निर्माण कार्य सुक्षेम फाउण्डेशन की ओर से करवाया जाएगा। सुक्षेम प्रतिनिधि प्रदीप टाक ने बताया कि भर्ती का काम रात के ग्यारह बजे तक चल रहा है और जल्दी ही जुलाई माह के अंत तक आवश्यक कार्यवाही के बाद निर्माण कार्य भी शुरू हो जाएगा। दूसरी और मौके पर डंफरों से रेत भराव का कार्य और समतलीकरण का कार्य परवान पर है, जिससे लोगों में खुशी की लहर है।

रींगस में पूर्व पुलिस महानिदेशक डॉ. रवि प्रकाश मेहरड़ा का स्वागत

जयपुर टाइम्स

रींगस(निस)। कस्बे के भैंरूजी मोड़ पर डॉ भीमराव अंबेडकर सेवा समिति की ओर से शनिवार को स्वागत समारोह का आयोजित करके राजस्थान पुलिस के पूर्व महानिदेशक डॉ. रवि प्रकाश मेहरड़ा का स्वागत किया गया। स्वागत कार्यक्रम के दौरान पूर्व पुलिस महानिदेशक डॉ. मेहरड़ा ने समिति पदाधिकारियों का आभार प्रकट करते हुए कहा कि समिति की ओर से शिक्षा, पर्यावरण संरक्षण आदि पर कार्य करना चाहिए। साथ ही आमजन के हितों पर कार्य करने से समिति का लक्ष्य हासिल होता है। ऐसे में जरूरतमंद व समाज सेवा पर विशेष ध्यान देना चाहिए। समिति वरिष्ठ सदस्य श्यामलाल मेघवाल ने बताया कि स्वागत कार्यक्रम के दौरान डॉ. मेहरड़ा से

समिति पदाधिकारियों की परिचय वार्ता के साथ फूल मालाएं व साफा बंधवाकर स्वागत किया गया। इसके बाद डॉ. मेहरड़ा खेतड़ी के लिए रवाना हो गए। इस अवसर पर बंशीधर तिरड़िया, सुनील बरवड़, सत्यनारायण मोरवाल, बजरंग, राजू, अनिल काला, प्रेमचंद, रघुनाथ जाटावत सहित अनेक नागरिक उपस्थित रहे ।सभी ने डॉ. मेहरड़ा के सामाजिक योगदान और प्रशासनिक सेवा के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की।

मालगाड़ी की चपेट में आने से युवक की मौत

जयपुर टाइम्स

रींगस(निस)। कस्बे के फाटक संख्या 108 के समीप मालगाड़ी की चपेट में आने से अज्ञात व्यक्ति की मौत हो गई। जिसके शव को रींगस उप जिला अस्पताल की मोर्चरी में डी फ्रीज की सुविधा नहीं होने के चलते खाटूश्यामजी अस्पताल की मोर्चरी में रखवाया गया है। एएसआई सुरेश कुमार ने बताया कि मालगाड़ी की चपेट में आने से एक अधेड़ उम्र का व्यक्ति घायल हो गया था जिसको तुरंत राजकीय उप जिला अस्पताल लेकर आए जहां इलाज के दौरान अधेड़ व्यक्ति ने दम तोड़ दिया। प्रथम दृष्टया मृतक खानाबदोश लग रहा है। जिसकी कंट्रोल रूम को सूचना देकर शिनाख्त के प्रयास किए जा रहे हैं।

निकाय चुनाव प्रदेशाध्यक्ष बनने पर जीवण खा को दी बधाई

जयपुर टाइम्स

सीकर(निस)। ब्लॉक कांग्रेस कमेटी सीकर की ओर से अध्यक्ष राजेश सैनी के नेतृत्व में सीकर नगर परिषद के निवर्तमान सभापति जनाब जीवण खां को स्थानीय निकाय प्रकोष्ठ नगर निगम, नगर परिषद, नगरपालिका, आरपीआई का प्रदेशाध्यक्ष नियुक्त किए जाने पर हार्दिक बधाई व शुभकामनाएं दी गईं। इस अवसर पर ब्लॉक कांग्रेस कमेटी ने राजस्थान प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष गोविंद सिंह डोटासरा व अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का आभार व्यक्त किया, जिन्होंने जनहित और संगठनात्मक अनुभव को ध्यान में रखते हुए यह महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी सौंपी।नवनियुक्त प्रदेशाध्यक्ष के निवास पर पहुंचकर ब्लॉक कांग्रेस कमेटी टीम की ओर से उन्हें पारंपरिक दुपट्टा पहनाकर अभिनंदन किया गया और मिठाई खिलाकर उज्ज्वल भविष्य की कामना की गई। इस अवसर पर उन्हें ब्लॉक कांग्रेस कार्यालय में सम्मान समारोह के लिए आमंत्रण भी दिया गया। इस प्रतिनिधिमंडल में मंडल अध्यक्ष दीनदयाल मीणाजुबेर नारू, अजय नायक, सुल्तान सैनी, एडवोकेट अत्ताउल्लाह खां, विक्रम सिंह शेखावतयूथ कांग्रेस विधानसभा अध्यक्ष विजेंद्र सैनी कार्यक्रम में जनरल सेक्रेटरी दिनेश सैनी, आबिद अली, मंजूर अली, मोनू माली, निवास सैनी, मकसूद कुरैशी, कालूराम चांवरिया, मास्टर रफीक भाटी सहित आदि शामिल रहे।

साडी का फंदा लगाकर विवाहिता ने की आत्महत्या

जयपुर टाइम्स

रींगस(निस)। पुलिस थानांतर्गत गांव बावड़ी में विवाहिता की ओर से साड़ी का फंदा लगाकर आत्महत्या करने का मामला सामने आया है। पुलिस को सूचना मिलने पर विवाहिता के शव को कब्जे में लेकर राजकीय उप जिला अस्पताल की मोर्चरी में रखवाया और पीहर पक्ष को सूचना दी गई। एएसआई सांवताराम ने बताया कि बावड़ी गांव में 23 वर्षीय रितू उर्फ मुन्नी देवी ने फंदा लगाकर आत्महत्या कर ली। सूचना मिलने पर मौके पर पहुंचे तो विवाहिता के शव को फर्श पर लेटा रखा था। मुन्नी देवी का करीब दो वर्ष पहले आकाश से विवाह हुआ था जिसके एक डेढ साल की बेटी है। विवाहिता का पति रंग पेंट का काम करता है जो घटना के दौरान काम पर गया हुआ था। समाचार लिखे जाने तक विवाहिता के शव का पोस्टमार्टम नहीं हुआ था।

न्यायिक कर्मचारी अनिश्चितकालीन सामूहिक अवकाश पर

जयपुर टाइम्स

झुंझुन(निसं.)। राजस्थान न्यायिक कर्मचारी संघ के प्रदेशाध्यक्ष सुरेंद्र नारायण जोशी के आह्वान पर झुंझुनू जिले के समस्त न्यायिक कर्मचारी अनिश्चितकालीन सामुहिक अवकाश पर हैं। जिला प्रवक्ता सुभाष मूंड ने बताया कि अधीनस्थ न्यायालय एवं जिला विधिक सेवा प्राधिकरण में पद स्थापित सामान्य संवर्ग और आशुलिपिक संवर्ग का कैडर पुनर्गठन राज्य सरकार की अधिसूचना के परिपेक्ष में किया जाना है। उक्त अधिसूचना का प्रस्ताव राजस्थान उच्च न्यायालय में बनाकर उच्च न्यायालय जोधपुर की फुल बेंच से पास करवाकर संबंधित जिला न्यायालय लिपिक वर्गीय संस्थापक नियम 1986 में भी संशोधन करवाकर राज्य सरकार को भेजा जा चुका है। परंतु आज 2 वर्ष पश्चात भी राज्य सरकार की ओर से इस संबंध में कोई आदेश पारित नहीं किया गया है। सरकार राजस्थान उच्च न्यायालय जोधपुर की पूर्ण पीठ से पारित आदेश की पालना सुनिश्चित नहीं कर रही है जो संवैधानिक संस्था के आदेशों की अवहेलना है। अत समस्त अधीनस्थ न्यायालयों के कर्मचारियों की ओर से संघ के प्रदेशाध्यक्ष के आह्वान पर कर्मचारियों के कैडर पुनर्गठन के आदेश राज्य सरकार से प्राप्त होने तक अनिश्चितकालीन सामूहिक अवकाश पर बैठने का निर्णय लिया गया है और सभी प्रकार के न्यायिक कार्यों का बहिष्कार किया जा रहा है। कार्यक्रम की अध्यक्षता जिला न्यायालय के प्रोटोकॉल अधिकारी बहादुर सिंह की ओर से की गई। इस अवसर पर अशोक शर्मा, सुनील यादव, प्रज्ञा कुमारी, रोहित शर्मा, लक्ष्मण सिंह पुरी, कपिल शर्मा, सुधीर, अशफाक खान, निधि मीना, ताराचंद सैनी, अरविंद सिंह शेखावत, नंदा बियाला, पूरणमल कुमावत, शीशराम कस्वां, गुलजार अली, निर्मला, करण पाल, सुशील कुमार, रेनू मीणा, सुरेंद्र मीणा, संजय लड्ढा, विशाल सिरोलिया, सुशील नेहरा, मोहम्मद रफीक, अनीता, रजनी चौधरी, वेदकौर, हजारीलाल चंदेल आदि उपस्थित रहे।

कांग्रेस करेगी स्मार्ट मीटर का विरोध

जयपुर टाइम्स

सुजानगढ़(नि.सं.)। लाडनू रोड़ स्थित आरके गार्डन में सोमवार को कांग्रेस कार्यकर्ताओं की संविधान सभा आयोजित की जाएगी। ब्लॉक कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष प्रदीप तोदी ने बताया कि विधानसभा क्षेत्र के कार्यकर्ताओं की सभा का आयोजन करके अतिरिक्त जिला कलक्टर व उपखंड अधिकारी को ज्ञापन दिया जाएगा। तोदी ने बताया कि बिजली विभाग की ओर से लोगों के घरों में जबरन स्मार्ट मीटर लगाने के विरोध में जिला कलेक्टर को ज्ञापन ज्ञापन दिया जाएगा। मीटिंग में कांग्रेस जनप्रतिनिधि, पदाधिकारी, कार्यकर्ताओं एवं आमजन से शामिल होने की अपील की गई है।

एससी वित आयोग अध्यक्ष राजेंद्र नायक आज सुजानगढ़ में

जयपुर टाइम्स

सुजानगढ़(नि.सं.)। राजस्थान राज्य अनुसूचित जाति वित व विकास आयोग के अध्यक्ष राजेंद्र कुमार नायक रविवार से सुजानगढ़ के पांच दिवसीय दौरे पर रहेंगे। आयोग सचिव अश्विनी कुमार शर्मा ने बताया कि रविवार को सुजानगढ़ में जनता से सम्पर्क कर राजेंद्र नायक जन अभाव अभियोग सुनेंगे। इसी प्रकार 21 जुलाई को तालछापर हरिण अभ्यारण्य में वन विभाग के अधिकारियों के साथ राजेंद्र नायक बैठक लेंगे। इसी प्रकार 22 जुलाई को सुजानगढ में जन सुनवाई करेंगें।

मौजास में बीओबी का स्थापना दिवस मनाया

जयपुर टाइम्स

मण्डावा(निस)। राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय मौजास में शनिवार को बैंक ऑफ़ बड़ौदा का 118 वां स्थापना दिवस मनाया गया। कार्यक्रम की अध्यक्षता विद्यालय के प्रधानाचार्य महिपाल सिंह बुगालिया ने की। जबकि बैंक ऑफ़ बड़ोदा मंडावा के शाखा प्रबंधक सुरेश गढ़वाल, बैंक के अधिकारी दिनेश कुमार धाबाई, ममता मीणा व हितेश कुमावत आदि मंचासीन रहे। प्रधानाचार्य महिपाल सिंह बुगालिया ने बताया कि बैंक ऑफ़ बडौदा की मंडावा शाखा ने बैंक के स्थापना दिवस पर विद्यालय के प्राइमरी सेक्शन के 80 विद्यार्थियों को शिक्षण सामग्री किट भेंट किए। शाखा प्रबंधक सुरेश गढ़वाल ने बैंक की कार्य शैली, विभिन्न प्रकार की योजनाएं व बैंक में खाता कैसे खोल सकते हैं, आदि की जानकारी दी। इस अवसर पर व्याख्याता मंजू माथुर, जितेंद्र मील, राकेश एचरा, हितेंद्र मीणा, शारीरिक शिक्षक योगेंद्र दुलड़, सुभाष मीठारवाल, राहुल चोपड़ा, महावीर प्रसाद, वंदना, बबीता, संगीता भड़िया व पूजा सिंह उपस्थित रहे। बैंक की तरफ से सभी को मिठाई वितरित की गई। कार्यक्रम का संचालन जय चंद भड़िया ने किया।

किसान ने लगाए 151 पौधे

जयपुर टाइम्स

चिड़ासन(निस)। क्षेत्र के चिड़ासन गांव की रोही में किसान होशियार सिंह के खेत में एक पेड़ मां के नाम अभियान के तहत पौधरोपण हुआ। किसान ने पर्यावरण के प्रति सजगता व जागरूकता व आमजन को पौधरोपण के प्रति प्रेरणा भी लोगों को मिलेंगे और पर्यावरण संरक्षण को बढ़ावा मिले। किसान ने अपनी आय बढ़ाने के फलदार, औषधिय पौधे व छायादार पौधे और इमारती लकड़ी आदि पौधे लगाकर पौधरोपण किया। किसान ने एक दिन में 151 पौधे लगाकर पौधरोपण किया। इस मौके अनीता, मंजू, धर्मचंद पायल, अशोक पायल, महिपाल पायल, सुरेश महला आदि मौके पर उपस्थित रहे।

एरिया डोमिनेशन अभियान के तहत तीन आरोपी गिरफ्तार

जयपुर टाइम्स

अजीतगढ़(निस)। उच्च अधिकारियों के निर्देश पर अजीतगढ़ में चलाए गए एरिया डोमिनेशन अभियान के तहत तीन जनों को गिरफ्तार किया गया। थाना अधिकारी रिया चौधरी ने बताया कि शनिवार को वांछित अपराधियों व वारंटियो के धड़पकड अभियान के तहत अजीतगढ़ पुलिस उपाधीक्षक उमेश गुप्ता के निर्देशन में अजीतगढ़ थाना अधिकारी रिया चौधरी के नेतृत्व में दो पुलिस टीमों का गठन किया गया जिस कारण पुलिस टीमों ने शनिवार की सुबह ही वारंटीयो एवं वांछित अपराधियों की गिरफ्तारी के लिए जगह-जगह दबिश देना शुरू कर दिया जिस कारण स्थाई वारंटी चुडला निवासी राजेंद्र सिंह उर्फ मुन्ना, गिरफ्तार वारंटी जुगलपुरा निवासी रंणजीत सेन व गैर अनुसंधान प्रकरण में अजीतगढ़ के योगियों के मोहल्ला निवासी किशोर योगी को गिरफ्तार करने में सफलता प्राप्त की।

शिव कथा में उमड़े श्रद्धालु

जयपुर टाइम्स

सरदारशहर(निस)। शहर के कानी देवी सेवा संस्था मंदबुद्धि महिला आश्रम में चल रही शिव महापुराण कथा के तीसरे दिन शनिवार को कथा व्यास आचार्य संतोष भाई ने शिव महिमा का वर्णन करते हुए कहा कि सरलता शिव को अतिप्रिय है। पूजा-पाठ और भक्ति का प्रदर्शन व चर्चा अभिमान उत्पन्न करते हैं जो हमारी साधना और ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में बाधक बनता है। कथा के यजमान गिरधारी सिंह ने सपत्नीक पूजा कर कार्यक्रम का शुभारंभ किया। कथा में बड़ी संख्या में शहर व ग्रामीण क्षेत्र से श्रद्धालुगण कथा का श्रवण कर भगवान भोलेनाथ का आशीर्वाद लेकर पुण्य कमा रहे हैं।

भारतीय मिश्रित टीम ने वर्ल्ड यूनिवर्सिटी गेम्स में अमेरिका को 3-1 से हराया

जयपुर टाइम्स

चुड़ैला(निस)। श्री जेजेटी यूनिवर्सिटी की प्रतिभाशाली बैडमिंटन खिलाड़ी अदिति भट्ट के नेतृत्व में भारतीय मिश्रित बैडमिंटन टीम ने वर्ल्ड यूनिवर्सिटी गेम्स 2025 के राउंड ऑफ 16 में अमेरिका को 3-1 से करारी शिकस्त देकर क्वार्टर फाइनल में प्रवेश किया। यह शानदार जीत जर्मनी के राइन-रूहर क्षेत्र में चल रहे 32वें वर्ल्ड यूनिवर्सिटी गेम्स (16-27 जुलाई 2025) में भारत की मजबूत उपस्थिति को दर्शाती है। खेल निदेशक डॉ. अरुण कुमार ने बताया कि भारतीय मिश्रित टीम ने इस मुकाबले में शानदार प्रदर्शन किया। सतीश/वैष्णवी की जोड़ी ने मिश्रित युगल में 2-1, सनीथ दयानंद ने पुरुष एकल में 2-1 और सनीथ/सतीश ने पुरुष युगल में 2-0 से जीत हासिल की। हालांकि, महिला एकल में देविका सिहाग को 0-2 से हार का सामना करना पड़ा। अदिति भट्ट, जो जेजेटी यूनिवर्सिटी की बैडमिंटन टीम की प्रमुख खिलाड़ी हैं, ने अपनी रणनीति और नेतृत्व से इस जीत में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यूनिवर्सिटी की बैडमिंटन टीम ने हाल ही में ऑल इंडिया इंटर यूनिवर्सिटी बैडमिंटन चैंपियनशिप 2024-25 में महिला और पुरुष दोनों वर्गों में खिताब जीता था। भारतीय दल का नेतृत्व जेजेटी यूनिवर्सिटी के प्रेसिडेंट डॉ. देवेंद्र सिंह ढुल कर रहे हैं, जिन्हें खेल मंत्रालय ने चौथी बार प्रशासनिक अधिकारी के रूप में नियुक्त किया है। भारतीय विश्वविद्यालय संघ (एआईयू) के ज्वाइंट सेक्रेटरी डॉ. बलजीत सिंह शेखों भी दल के साथ मौजूद थे। यूनिवर्सिटी की कोच मीनू राणा (महिला टीम) और कोच हरेंद्र मलिक (पुरुष टीम) ने इस जीत में महत्वपूर्ण योगदान दिया। चेयरपर्सन डॉ. विनोद टिबडेवाला ने अदिति भट्ट, डॉ. देवेंद्र सिंह ढुल, कोच मीनू राणा, हरेंद्र मलिक और पूरी भारतीय टीम को इस उपलब्धि के लिए हार्दिक बधाई दी। उन्होंने कहा कि यह जीत जेजेटी यूनिवर्सिटी और भारत के लिए गर्व का क्षण है। हमें विश्वास है कि हमारी टीम क्वार्टर फाइनल में मलेशिया के खिलाफ भी शानदार प्रदर्शन करेगी। यूनिवर्सिटी के रजिस्ट्रार डॉ. अजीत कुमार, मुख्य वित्त अधिकारी डॉ. अमन गुप्ता, डीन एकेडमिक्स डॉ. रामदर्शन फोगाट, हेड एचआर डॉ. महेश सिंह, डॉ. इकराम कुरैशी, डॉ. अनिल कुमार, डॉ. सुरेंद्र कुमार, डॉ. रामनिवास सोनी, कपिल जानू, विक्रम कुमार सहित समस्त स्टाफ ने भारतीय टीम को शुभकामनाएं दीं। भारत का अगला मुकाबला क्वार्टर फाइनल में मलेशिया के खिलाफ होगा, जिसमें देश को पदक की प्रबल उम्मीद है।

स्वच्छ खाटू अभियान धरातल पर बेअसर, बारिश ने खोली प्रशासन की पोल

जयपुर टाइम्स

खाटूश्यामजी(निस)। सीकर जिले के प्रसिद्ध बाबा श्याम की नगरी खाटूश्यामजी में बारिश की थोड़ी सी झलक ने प्रशासन की व्यवस्थाओं की पोल खोल दी है। जहां प्रशासन स्वच्छ खाटू श्याम जी के लिए अभियान चला कर सफाई संदेश दे रहा है वहीं दूसरी ओर बारिश आते ही खाटूश्याम जी के मुख्य अलोदा तिराहा, मुख्य मार्केट, मंढा चौराहा, लामिया तिराहा, मोदी चौक और मेला मजिस्ट्रेट कार्यालय के सामने मुख्य रास्ते में पानी का जल भर देखा गया जिसमें श्याम भक्त श्रद्धा गंदे पानी में पैदल चलते हुए नजर आए कुछ श्याम भक्तों को इस प्रकार की पानी भराव की समस्या को देखकर प्रशासन पर नाराजगी व्यक्त की। गौरतलब है कि जिला कलेक्टर मुकुल शर्मा ने पानी की जल भराव की समस्या को खत्म करने के लिए नगर पालिका प्रशासन को दिशा निर्देश दिए लेकिन धरातल पर कार्य नहीं हो पाए। श्याम भक्तों से रूबरू होने पर रामचरण पाटीदार ने बताया कि सरकार की ओर से बजट की बातें मिथ्या साबित हो रही है, हम बाहर से आए हुए गंदे पानी में चलने के लिए मजबूर है। इसमें सीवरेज का गंदा पानी आ रहा है। पानी निकासी की कोई समुचित व्यवस्था नहीं दिखाई दे रही है। पूरे बाजार में पानी सड़कों पर बह रहा है। नालियों का गंदा पानी और कचरा रोड पर आने जाने से श्याम भक्त इस पर चलने को मजबूर है।

पूर्व डीजीपी का सम्मान आज

जयपुर टाइम्स

अजीतगढ(निस)। पुलिस महानिदेशक (से.नि) डॉक्टर रवि प्रकाश मेहरडा का रविवार को सम्मान किया जाएगा। इंडियन रेडक्रॉस सोसायटी के तहसील प्रभारी कपिल मीणा व ब्लॉक संयोजक शंकर लाल शर्मा ने बताया कि रविवार की शाम 4 बजे इंडियन रेडक्रॉस सोसायटी कार्यालय में डॉं.रवि प्रकाश मेहरडा सेवानिवृत्त डीजीपी का सम्मान किया जाएगा। जानकारी के अनुसार इसके बाद विभिन्न संगठनों की ओर से अजीतगढ़ के चोमू तिराए पर भी सम्मान किया जाएगा।

प्रतिभाशाली विद्यार्थियों को किया सम्मानित

जयपुर टाइम्स

श्रीमाधोपुर(निस)। कस्बे के गांव मूंडरू स्थित महात्मा गांधी राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय में शनिवार को प्रधानाचार्य भैरूराम यादव की अध्यक्षता में प्रतिभा सम्मान समारोह का आयोजन किया गया। मुख्य अतिथि सेवानिवृत शिक्षक नागर मल गुप्ता रहे। समारोह के अतिथि विजेन्द्र सिंह, लाखन सिंह, नरेंद्र सिंह, मुकेश सैनी, केशव शर्मा, सीताराम यादव सहित अतिथियों ने कक्षा दस व बारह के टॉपर विद्यार्थियों को प्रतीक चिह्न, प्रमाण पत्र देकर सम्मानित किया गया। प्रधानाचार्य भैरूराम यादव ने बताया कि कक्षा 12 में 75 प्रतिशत से अधिक अंक प्राप्त करने वाली 20 छात्राओं, कक्षा 10 की 75 प्रतिशत से अधिक अंक प्राप्त करने वाली 29 छात्राओं सहित कक्षा 8 व कक्षा 5 में ✓ ग्रेड प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों, एनएमएमएस परीक्षा चयनित 5 विद्यार्थियों का माला व साफा पहनाकर सम्मान किया गया।

अजीतगढ अस्पताल बारिश से पानी- पानी, मरीजों को परेशानी

जयपुर टाइम्स

अजीतगढ़(निस)। थोड़ी सी बरसात आते ही कस्बे के बाबा नारायण दास राजकीय सामान्य चिकित्सालय के प्रथम गेट पर बरसात के पानी का भराव हो जाता है, इससे मरीज चक्कर काटकर बीच वाले गेट से अस्पताल में प्रवेश करते हैं जिस कारण उन्हें भारी परेशानी होती है। जानकारी के अनुसार इस अस्पताल के तीन प्रमुख द्वारा है जिनमें से द्वार जो बिजली निगम कार्यालय के पास बना हुआ है उसमें जैसे ही बरसात हो जाती है तो उस गेट में काफी दूरी तक बरसात का पानी भर जाता है जबकि इस गेट के आगे अस्पताल का मुर्दाघर व महिला शौचालय बनी हुई है साथ ही इस गेट से नीमकाथाना सड़क मार्ग की तरफ से आने वाले मरीज प्रवेश करते हैं। जानकारी के अनुसार कभी अजीतगढ़ के चोमू तिराया पर जाम की समस्या रहती है तो नीमकाथाना सड़क मार्ग की तरफ से आने वाली एम्बुलेंस इसी गेट से अस्पताल में प्रवेश करती है साथ ही अधिकतर मरीज जो अस्पताल में पैदल उपचार करने आते हैं वे भी इसी गेट से प्रवेश करते हैं। लेकिन इस बरसात के मौसम मे अधिकतर दिनों बरसात का पानी भरा होने के कारण मरीजों में आम लोगों को भारी परेशानी हो रही है जिस कारण लोगों ने अस्पताल के पीएमओ से मांग की है कि इस समस्या से निजात दिलाई जाए। इस संबंध में अस्पताल के पीएमओ डॉक्टर अशोक कुमावत का कहना है कि अस्पताल भवन काफी नीचा बना हुआ है, गेट के बाहर सड़क मार्ग बना हुआ है वह काफी ऊंचाई पर है इसलिए बरसात का पानी का भराव इसी गेट में हो जाता है। समस्या का समाधान करने के प्रयास किए जाएंगे।

भामाशाह सतरावला का लोगों ने किया सम्मान

जयपुर टाइम्स

झुंझुनू(निसं.)। माली सैनी समाज संस्था झुंझुनू, सावित्रीबाई फुले एजुकेशन सोसायटी, यूथ क्लब रतनशहर व वरिष्ठ अध्यापक दलीप सैनी इस्लामपुर के संयुक्त तत्वावधान में भामाशाह रामस्वरूप सतरावला का सम्मान किया गया। इस अवसर पर 52 पौधे लगाकर पर्यावरण संरक्षण का संदेश दिया गया, साथ ही चारा कटाई मशीन भेंट कर उसका विधिवत उद्घाटन किया गया। गौमाताओं को हरा चारा खिलाकर गौसेवा के प्रति समर्पण भाव प्रकट किया गया। कार्यक्रम में गौशाला समिति के पूर्व वार्डपंच रामप्रताप सैनी, केशरदेव सैनी, डॉ सुरेन्द्र सैनी, माली सैनी समाज संस्था झुंझुनू के जिलाध्यक्ष महेन्द्र शास्त्री, वरिष्ठ अध्यापक दलीप सैनी, अयुब खान सहित अनेक लोग उपस्थित रहे। सभी ने रामस्वरूप सतरावला को साफा पहनाकर सम्मानित किया। भामाशाह रामस्वरूप सतरावला ने कहा कि असली खुशी सेवा कार्यों में है। गौसेवा और पर्यावरण संरक्षण ही मेरे जीवन का उद्देश्य है। इस अवसर पर ब्लॉक संयोजक संदीप सैनी, प्रचार-प्रसार मंत्री दलीप सैनी, प्रचार मंत्री मास्टर प्रदीप सैनी, युवा नेता सौरभ योगी, रामवतार सैनी कालेरी की ढाणी, निवेश सैनी इस्लामपुर, यूथ क्लब अध्यक्ष विक्रम सैनी रतनशहर, लाइब्रेरियन दलीप सैनी, मीडिया प्रभारी नरेश बगड़ सहित अनेक युवा व समाजसेवी उपस्थित रहे।

रोटरी क्लब का निशुल्क चिकित्सा शिविर आज

जयपुर टाइम्स

रींगस(निस)। कस्बे की रामानंद पाठशाला में रविवार को रोटरी क्लब रींगस के तत्वावधान में निशुल्क चिकित्सा शिविर का आयोजन किया जाएगा। रोटरी क्लब के सह प्रांतपाल डॉ भंवर सिंह ताखर ने बताया कि शिविर में शंकरा आई हॉस्पिटल जयपुर की ओर से निशुल्क मोतियाबिंद जांच व नेत्र लेंस प्रत्यारोपण किया जाएगा। शिविर में निशुल्क होम्योपैथिक व फिजियोथेरेपी चिकित्सा शिविर भी लगाया जाएगा जिसमें होम्योपैथी पद्धति से डॉ अजय सक्सेना बाल रोग, मूत्र रोग, उदर रोग, श्वास रोग, चर्म रोग व स्त्री रोग का उपचार करेंगे। वही फिजियोथेरेपिस्ट डॉ भंवर सिंह ताखर फिजियोथेरेपी के माध्यम से स्लिप डिस्क, कमर दर्द, गर्दन दर्द, एडी दर्द, कन्धा दर्द, घुटना दर्द, लकवा, सेरेब्रल पाल्सी, रीढ़ की हड्डी में चोट आदि बीमारियों का उपचार करेंगे। शिशु व बाल रोग विशेषज्ञ डॉ विनोद गुप्ता सहित आयुर्वेद पद्धति के पीएस राजपूत घरेलू नुस्खों से सभी बीमारियों का इलाज करेंगे

राजकीय स्कूल के छात्र-छात्राओं को बैग वितरित

जयपुर टाइम्स

मण्डावा(निस)। ढाकाली के राउ प्रावि में बैंक ऑफ बडोदा के 118 वें स्थापना दिवस पर बैंक ऑफ बडोदा शाखा चुड़ी चतरपुरा की तरफ से विद्यालय में सभी छात्र-छात्राओं को बैग वितरित किए गए और अल्पाहार की व्यवस्था की गई। शाखा प्रबन्धक दलीप कुमार ढाका ने उपस्थित अभिभावकों व छात्र - छात्राओं को बैंक की विभिन्न योजनाओं की जानकारी दी। कार्यक्रम में संस्था प्रधान प्रमिला व स्टाफ मुरारी सेरावत राधेश्याम, नरेशकुमार पूनियां, नवनीत कुमार व ज्योति शर्मा और ग्रामीण मदनलाल ढाका, सुबेदार हरलाल ढाका, मोहनलाल धाबाई, महावीर ढाका, बीरबल ढाका मौजूद रहे। संस्था प्रधान प्रमिला ने बैंक कर्मचारी शाखा प्रबंधक द?लीप? कुमार ढाका, राजेन्द्र प्रसाद, नवरत्न व मोहन स्वामी व उपस्थित ग्रामीणों का आभार व्यक्त किया।

रींगस नगर कांग्रेस कमेटी की कार्यकारिणी गठित

जयपुर टाइम्स

रींगस(निस)। नगर कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष अशोक कुमार कुमावत ने प्रदेश कांग्रेस कमेटी अध्यक्ष गोविंद सिंह डोटासरा, जिलाध्यक्ष सुनिता गठाला सहित उच्च पदाधिकारियों के निर्देश पर रींगस नगर कांग्रेस कमेटी की कार्यकारिणी का विस्तार करके विभिन्न पदों पर नियुक्ति दी है। नगर अध्यक्ष अशोक कुमार कुमावत ने बताया कि संगठन मंत्री ब्रह्मप्रकाश काबरा, उपाध्यक्ष रामेश्वर लाल गुर्जर, अशोक कुमार बुला, विजयपाल बावलिया, बनवारी लाल कुमावत व हितेश कटारिया, महासचिव इंजीनियर खेमराज धाबाई, निरंजन शर्मा, अल्ताफ खान, सुरेश गढवाल व रामेश्वर लाल निठारवाल, सचिव बाबूलाल राजोरिया, सरला कंवर, श्रवण सितमका, नितेश धानका व ओमप्रकाश जांगिड़, प्रवक्ता एडवोकेट प्रशांत शर्मा, कोषाध्यक्ष महेश अग्रवाल व सोशल मीडिया प्रभारी पद पर राजेंद्र कुमावत को नियुक्त किया है। साथ ही मुकेश कुमार स्वामी, नबाब, पंकज सैन, मुरलीधर शर्मा, अजीत बलोदा, सुरेश बगड़िया, अनुपम पारीक, राजेश कुमावत, पूर्णमल रैगर, आरती सैन व मूलचंद रैगर को सदस्यों में शामिल किया गया है। नियुक्त किए गए पदाधिकारियों व सदस्यों की सूची बनाकर कांग्रेस जिलाध्यक्ष सुनीता गठाला सहित प्रदेश कांग्रेस कमेटी के पदाधिकारियों को भेजी गई है।

रींगस में हरियालो राजस्थान अभियान के तहत पौधरोपण

जयपुर टाइम्स

रींगस(निस)। कस्बे के भैरुजी मोड़ स्थित टैगोर शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान में हरियालो राजस्थान अभियान के तहत बीएड के प्रशिक्षणार्थियों ने महाविद्यालय परिसर में फलदार व छायादार पौधे लगाकर पर्यावरण संरक्षण एवं स्वच्छता का संदेश दिया। संस्थान के निदेशक प्रदीप कुमार शर्मा व प्राचार्या डॉ पुष्पलता शर्मा ने प्रशिक्षणार्थियों को सम्बोधित करते हुए कहा कि राजस्थान सरकार की ओर से संचालित हरियालो राजस्थान अभियान को सफल बनाने के लिए और पर्यावरण को प्रदूषण से बचाने के लिये हमें गांव, कस्बे, शहर, सार्वजनिक स्थान हर जगह अधिक से अधिक पेड़-पौधें लगाना होगा। इसके साथ-साथ उस पौधे का पेड़ बनने तक ध्यान रखना होगा ताकि लोग प्रकृति के महत्व को समझे। गर्मी के मौषम में पशु- पक्षीयो के लिये पेड़ -पौधे व परिंडे लगाना भी ईश्वर की पूजा के समान होता है। इस अवसर पर संस्थान के प्रवक्ता सुनीता बल्डोदिया, संजय बींवाल, जीतेश कुमार शर्मा, मनीष कुमार सामोता, ओम प्रकाश बगड़िया, गोपाल पारीक, अनिल नायक, रघुवीर पारीक, घनश्याम स्वामी आदि मौजूद रहे।

रींगस की राबाउमावि की 3 छात्राओं का इंस्पायर अवार्ड के लिए चयन

जयपुर टाइम्स

रींगस(निस)। कस्बे के अस्पताल चौराहे पर स्थित राजकीय बालिका उच्च माध्यमिक विद्यालय की 3 छात्राओं की ओर से बोर्ड परीक्षा 2025 में विज्ञान संकाय में सर्वोच्च अंक प्राप्त करने पर इंस्पायर अवार्ड के लिए चयन हुआ है। प्रधानाचार्या निर्मल मान ने बताया कि ज्योति बावलियां पुत्री शैतान सिंह ने 97 प्रतिशत अंक, अंजू कुमावत पुत्री श्रीराम कुमावत ने 96.60 प्रतिशत अंक व अक्षिता कुमावत पुत्री मुकेश कुमार कुमावत ने 96 प्रतिशत अंक प्राप्त किए हैं। जिस पर उनका इंस्पायर अवार्ड के लिए चयन हुआ है। संस्थान के सुधीर धायल ने बताया कि इसके तहत चयनित छात्राओं को उच्च शिक्षा के लिए 80 हजार रुपये प्रतिवर्ष की छात्रवृत्ति भारत सरकार के सूचना व प्रौद्योगिकी मंत्रालय की ओर से प्रदान की जाएगी।

राजस्थान जयपुर टाइम्स

जयपुर, रविवार
20 जुलाई, 2025

अवैध रास्ता विवाद में 13 अभियुक्तों को 3 साल की सजा

जयपुर टाइम्स

सरदारशहर(निस)। अवैध रास्ता विवाद प्रकरण में अपर सेशन न्यायाधीश ने बड़ा फैसला सुनाते हुए 13 अभियुक्तों को तीन वर्ष का कारावास और दो दो हजार के अर्थदंड की सजा से दंडित किया है। एडीजे कोर्ट की न्यायाधीश माननीय सरिता नौशाद ने यह फैसला सुनाया है। दोष सिद्ध पाए गए अभियुक्तों में रामकुमार पुत्र फुसाराम, पवन कुमार पुत्र ओंकारमल, प्रभूराम पुत्र मूलाराम, भंवरनाथ पुत्र तनानाथ, श्रवणनाथ पुत्र भंवरनाथ, धनपतनाथ पुत्र भादरनाथ, सोहननाथ पुत्र रेडनाथ, नारायणनाथ पुत्र सुगननाथ, भादरनाथ पुत्र तनानाथ, भागीरथनाथ पुत्र मेघनाथ, जालाराम पुत्र रामेश्वरराम, तोलाराम पुत्र भंवरलाल और बजरंगनाथ पुत्र रामेश्वरनाथ सभी लिखमादेसर निवासी है। न्यायालय ने इन्हें दोषी मानते हुए तीन वर्ष का साधारण कारावास व अर्थदंड की सजा सुनाई है। मामले में राज्य की तरफ से पैरवी अपर लोक अभियोजक सोहननाथ सिद्ध ने की। जबकि परिवादी की ओर से अधिवक्ता लेखराम चौधरी ने पैरवी की। यह घटना 7 जून 2012 की है। परिवादी रामपाल पुत्र गुमानाराम जोशी निवासी लुणासार ने उस समय थाने में मामला दर्ज करवाया था।

जलभराव के चलते पशु अस्पताल बंद

जयपुर टाइम्स

सुजानगढ़ (नि.सं.)। बारिश के चलते शहर के अनेकों क्षेत्रों में जलभराव की स्थिति है और इसी के तहत नाथोतालाब स्थित राजकीय पशु अस्पताल में भी दिनभर जलजमाव रहा। पानी के भराव के कारण अस्पताल पर दिनभर ताला लगा हुआ नजर आया। न तो कोई कर्मचारी नजर आया और न ही कोई पशुपालक यहां पर दिखा। इसी प्रकार जाजोदिया स्कूल की ओर जाने वाले रास्ते पर भी जलभराव हो जाने के कारण लोगों को रास्तों में बदलाव करना पड़ रहा है। दूसरी ओर सुजानगढ़ के भोजलाई बास में स्थित कब्रिस्तान के अंदर की दीवार टूट जाने की जानकारी मिली। पार्षद इस्माईल खां ने बताया कि कब्रिस्तान और श्मसान के बीच की दीवार पानी के भराव के कारण टूट गई, जिसके कारण काफी नुकसान हुआ है। वहीं रात को बारिश होने के कारण सुजानगढ़ शहर की स्टेशन रोड़ तो मानो पानी का दरिया बन गई। स्टेशन रोड़ पर कई लोग अपनी खराब हो चुकी बाईक को पैदल ही खींचते हुए नजर आए।

जिला स्तरीय नेटबाल में प्रिंस एकेडमी को विजेता का खिताब

जयपुर टाइम्स

सीकर(निस)। लोसल में चल रही 13वीं जिला स्तरीय नेटबाल प्रतियोगिता में सीकर स्थित सीबीएसई इंग्लिश मीडियम स्कूल प्रिंस एकेडमी ने छात्र सीनियर वर्ग में शेखावाटी स्पोर्ट्स एकेडमी को 22-16 से पराजित कर विजेता का खिताब हासिल किया है। प्रिंस एकेडमी के वंश कुमार को मैन ऑफ द मैच का खिताब मिला। इसके साथ ही नेटबॉल छात्रा सीनियर वर्ग में प्रिंस एकेडमी ने उपविजेता का खिताब जीता है। झुंझुनूं में चल रही सीबीएसई क्लस्टर कबड्डी 19 आयु वर्ग छात्र प्रतियोगिता में प्रिंस एकेडमी ने प्रतियोगिता के प्रथम दिन एसडीएम स्कूल, जयपुर को 49-16 से पराजित किया है। विद्यार्थियों के शानदार प्रदर्शन पर प्रिंस एजुहब निदेशक जोगेंद्र सुण्डा, चेयरमैन डा. पीयूष सुण्डा व मुख्य प्रबंध निदेशक राजेश ढिल्लन ने विजेता टीम, खिलाड़ियों, अभिभावकों को बधाइयां दी।

शेखावाटी विश्वविद्यालय में एक और नवाचार, इन्क्यूबेशन सेंटर को लेकर अहम बैठक

जयपुर टाइम्स

सीकर(निस)। पंडित दीनदयाल उपाध्याय शेखावाटी विश्वविद्यालय, सीकर में नवाचार और स्टार्टअप को बढ़ावा देने के उद्देश्य से इन्क्यूबेशन सेंटर के संबंध में अहम बैठक हुई। विश्वविद्यालय के प्रशासनिक भवन में हुई इस बैठक में प्रतिष्ठित शिक्षाविदों, विश्वविद्यालय के उच्चाधिकारियों और फाउंडेशन के प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। पीडीयूएस फाउंडेशन की ओर से शुरू किए जा रहे इन्क्यूबेशन सेंटर के संबंध में आयोजित बैठक की अध्यक्षता शेखावाटी विश्वविद्यालय के कुलगुरु प्रो.(डॉ.) अनिल कुमार राय ने की। कुलगुरु प्रो. अनिल राय ने इस पहल की सराहना करते हुए कहा कि यह इन्क्यूबेशन सेंटर सीकर क्षेत्र में नवाचार और उद्यमिता को बढ़ावा देने में मील का पत्थर साबित होगा। उन्होंने विश्वास व्यक्त किया कि यह सेंटर विद्यार्थियों को आत्मनिर्भर भारत के सपने को साकार करने की दिशा में प्रेरित करेगा और रोजगार सृजन के नए द्वार खोलेगा। बैठक में सुनील जायसवाल ने प्रजेंटेशन के माध्यम से इन्क्यूबेशन और स्टार्टअप्स का परिचय दिया। उन्होंने बताया कि यह इन्क्यूबेशन सेंटर नवोदित उद्यमियों और छात्रों को उनके अभिनव विचारों को वास्तविकता में बदलने के लिए सहायता और संसाधन प्रदान करेगा।

जल, जंगल और जमीन की सुरक्षा के लिए हम सब आगे आएं : सहारण

जयपुर टाइम्स

चूरू(निस)। राजस्थान राज्य विधिक सेवा प्राधिकरण, जयपुर और जिला विधिक सेवा प्राधिकरण अध्यक्ष (जिला व सेशन न्यायाधीश) रविन्द्र कुमार के निर्देशानुसार शनिवार को रालसा स्कीम "सृजन की सुरक्षा" के सफल क्रियान्वयन के लिए चूरू के रामसरा गांव के खेल मैदान में विधायक हरलाल सहारण, चूरू प्रधान दीपचंद राहड़, जिला विधिक सेवा प्राधिकरण सचिव डॉ शरद कुमार व्यास सहित अधिकारियों, जनप्रतिनिधियों ने पौधरोपण किया। इस अवसर पर विधायक हरलाल सहारण ने कहा कि जल, जंगल और जमीन की सुरक्षा के लिए हम सभी को आगे आना होगा। उन्होंने कहा कि पृथ्वी को बचाना हम सभी का दायित्व है। वर्तमान में जलवायु समस्याओं से निपटने के लिए हमें प्रकृति व पर्यावरण संरक्षण के लिए गंभीर प्रयास करने होंगे। उन्होंने कहा कि 'सृजन की सुरक्षा' केवल एक योजना नहीं, बल्कि प्रकृति से हमारे जुड़ाव का प्रतीक है। सृजन की सुरक्षा योजना के सफल क्रियान्वयन में हम सभी समुचित भागीदारीर निभाएं। उन्होंने कहा कि हरियालो राजस्थान अभियान के माध्यम से प्रदेश सरकार राजस्थान को हरा–भरा व अग्रणी बनाने की दिशा में संकल्पित प्रयास कर रही है। प्रधान दीपचंद राहड़ ने भी पर्यावरण संरक्षण का महत्व बताते हुए विचार व्यक्त किए। जिला विधिक सेवा प्राधिकरण सचिव डॉ शरद कुमार व्यास ने बताया कि इस कार्यकम में ग्राम पंचायत खासोली में वर्ष 2025 में जन्म लेने वाली 14 बालिकाओं के प्रत्येक परिवार की ओर से 11 पौधे लगाए गए। उन्होंने बताया कि रालसा की ओर से संचालित सृजन की सुरक्षा योजना की परिकल्पना "राजस्थान में एक ऐसे समाज को प्रोत्साहित करना, जहां महिलाओं को सशक्त बनाया जाए, बालिकाओं को आगे बढ़ाया जाए तथा पर्यावरण को संरक्षित व पोषित किया जाए और सभी के हित के लिए उनके परस्पर संबंधों को महत्व देते हुए कार्य किया जाए" है। उन्होंने बताया कि यह योजना राजस्थान के सभी 36 जिला विधक सेवा प्राधिकरणों में चयनित एक-एक ग्राम पंचायत में पायलट परियोजना के रूप में चलाई जा रही है। योजना का उद्देश्य कन्या भ्रूण हत्या को रोकना, बालिका शिक्षा को बढ़ावा देना, पर्यावरण संरक्षण को बढ़ावा देना, विधिक जागरूकता के माध्यम से महिलाओं को सशक्त बनाना, जमीनी स्तर पर योजनाओं के क्रियान्वयन को मजबूत करना व न्याय तक पहुंच प्रदान करना है। सचिव डॉ व्यास ने बताया कि योजना अंतर्गत लगाए गए पौधों की प्रारंभिक देखभाल और पोषण की जिम्मेदारी नवजात बालिका के परिवारजन की होगी। योजना अतंर्गत चयनित प्रत्येक बालिका को एक-एक हरित बालिका कार्ड का भी वितरण किया गया, जो प्रतीकात्मक रूप से बालिका को पर्यावरण संरक्षण से जोड़ेगा तथा कार्ड चयनित परिवारों व बालिकाओं को विधिक सेवा संस्थानों तक पहुंचने व आवश्यक सरकारी योजनाओं की सहायता प्राप्त करने के लिए सम्पर्क बिन्दु के रूप में कार्य करेगा। साथ ही जिला विधिक सेवा प्राधिकरण हरित बालिका के परिवारों के साथ सक्रिय रूप से जुड़कर, उन्हें चिकित्सा सुविधाओं, स्वास्थ्य सेवा योजनाओं, शैक्षिक अवसर और प्रासंगिक सरकारी योजनाओं, उपलब्ध सामाजिक सुरक्षा कार्यकम, जरूरत पड़ने पर विधिक सहायता और सहायता, जो विशेष रूप से बाल अधिकारों, महिलाओं के अधिकारों और पोक्सो अपराधों से संबंधित होगी, आदि जानकारी और सहायता प्रदान करेगा। उन्होंने बताया कि इस प्रकार पौधरोपण कार्यक्रमों का आयोजन त्रैमासिक रूप से किया जाता रहेगा। इस दौरान बार संघ अध्यक्ष नरेन्द्र सैनी, मुख्य जिला शिक्षा अधिकारी गोविन्द सिंह राठौड़, मुख्य चिकित्सा व स्वास्थ्य अधिकारी मनोज शर्मा, अतिरिक्त मुख्य जिला शिक्षा अधिकारी कमल शर्मा, सहायक वन संरक्षक महेन्द्र लेखाला, महिला व बाल विकास विभाग उपनिदेशक नरेन्द्र सिंह, चीफ एलएडीसीएस सुमेर सिंह, कमल सहित अन्य उपस्थित रहे।

सामुदायिक सहभागिता से विद्यालय विकास व शिक्षा में गुणात्मक सुधार की आवश्यकताः राठौड़

जयपुर टाइम्स

चूरू(निस)। जिला शिक्षा व प्रशिक्षण संस्थान चूरू में चार दिवसीय जिला संदर्भ समूह (डीआरजी) प्रशिक्षण का समापन हुआ। समापन कार्यक्रम को सम्बोधित करते हुए मुख्य जिला शिक्षा अधिकारी व डाइट प्राचार्य डॉ.गोविन्द सिंह राठौड़ ने कहा कि हमे ऐसे प्रयोग करने चाहिए कि शोध कार्य का परिणाम धरातल पर दृष्टिगोचर हो तथा शिक्षक, शिक्षार्थी व अभिभावक को शोध कार्यों का प्रत्यक्ष रूप से सकारात्मक लाभ मिले। इसके साथ साथ उन्होने सामुदायिक सहभागिता से विद्यालय विकास व शिक्षा में गुणात्मक सुधार लाने पर बल दिया। डाइट उपप्राचार्य नरेन्द्र कुमार उपाध्याय ने पूर्व के शोधों का अध्ययन कर नवीन शोध करने पर बल देते हुए शोध कार्यों में आर्टिफिशियल इन्टेलीजेंस के उपयोग पर प्रकाश डाला। आईएफआईसी प्रभागाध्यक्ष डॉ0 विजयलक्ष्मी शेखावत ने बताया कि 16 जुलाई से 19 जुलाई तक आयोजित इस चार दिवसीय प्रशिक्षण में चूरू जिले के समस्त ब्लाकों से चयनित शोधार्थी शिक्षकों को अपने विद्यालय की समस्याओं का चयन कर क्रियात्मक अनुसंधान से वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समाधान का प्रशिक्षण दिया गया। इस प्रशिक्षण से विद्यालय स्तर पर नवाचारों को बल मिलेगा। इस अवसर पर सीएमडीई प्रभागाध्यक्ष कुसुम शेखावत प्रशिक्षण प्रभारी भीष्म प्रकाश सहारण प्रसन्ना मीणा, ओम प्रकाश बारूपाल, महेन्द्र कुमार शर्मा, शोध विशेषज्ञ डॉ0 श्याम सुन्दर कौशिक शिव कुमार सहारण उपप्राचार्य, रमेश मिरासी व्याख्याता जगवीर पूनिया, धर्मवीर बिस्सल, जय प्रकाश, ओम प्रकाश भाकर, सुरेश बुंदेला आदि उपस्थित रहे। कार्यक्रम का संचालन सचिन ढांडा ने किया।

तनुश्री धनखड़ जर्मनी में करेगी भारत का प्रतिनिधित्व

जयपुर टाइम्स

चिड़ावा(निस)। शहर की बेटी प्रतिभावान एथलीट तनुश्री धनखड़ अंतरराष्ट्रीय मंच पर भारत का प्रतिनिधित्व करने के लिए जर्मनी रवाना हो गई हैं। वे राइन-रुहर शहर में आयोजित हो रहे 32वें वर्ल्ड यूनिवर्सिटी गेम्स में हेप्टाथलन स्पर्धा में भाग लेगी। यह बहु खेल आयोजन 16 से 27 जुलाई तक जर्मनी के छह शहरों में आयोजित हो रहा है, जिसमें दुनिया भर से करीब 10 हजार खिलाड़ी 18 विभिन्न खेलों में हिस्सा ले रहे हैं। तनुश्री के पिता राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित शारीरिक शिक्षक जय सिंह धनखड़ ने बताया कि तनुश्री दो दिवसीय हेप्टाथलन स्पर्धा में हिस्सा ले रही है। इस प्रतियोगिता में एक एथलीट को दो दिन में सात ट्रैक और फील्ड इवेंट्स में भाग लेना होता है जिसमें 100 मीटर बाधा दौड़, ऊंची कूद, गोला फेंक, 200 मीटर दौड़, लंबी कूद, भाला फेंक व 800 मीटर दौड़ शामिल है। प्रशिक्षक धनखड़ का मानना है कि तनुश्री इस चुनौतीपूर्ण स्पर्धा में बेहतरीन प्रदर्शन करके देश का नाम रोशन करेगी। तनुश्री वर्तमान में पटियाला स्थित एनआईएस सेंटर में अभ्यासरत हैं और चंडीगढ़ यूनिवर्सिटी में अपनी शिक्षा ग्रहण कर रही हैं। वह इससे पहले अंडर-20, अंडर-23, सीनियर नेशनल और ऑल इंडिया यूनिवर्सिटी खेलों में पदक जीत चुकी हैं। उनके निरंतर प्रदर्शन और समर्पण को देखते हुए खेल विशेषज्ञों को उम्मीद है कि वे इस बार भी देश के लिए पदक लाएंगी।

तनुश्री की इस उपलब्धि पर उनके पैतृक गांव किठाना और जन्मस्थान चिड़ावा में खुशी की लहर है। इस अवसर पर उनके दादा रामजीलाल धनखड़, उपराष्ट्रपति जगदीप धनखड़ की पत्नी डॉ सुदेश धनखड़, सुबेदार गोकुलचंद, आरटीडीसी के पूर्व चेयरमैन रणदीप धनखड़, ताऊ रतनवीर, चिड़ावा हार्डवेयर एंड इलेक्ट्रिकल्स एसोसिएशन के अध्यक्ष महेंद्र धनखड़ और पटियाला के कोच ने तनुश्री को बेहतर प्रदर्शन करने की शुभकामनाएं दी।

आइडियाथॉन कार्यशालाः युवा सोच को व्यवसायिक अवसरों में बदलने पर जोर

जयपुर टाइम्स

सीकर(निस)। आईस्टार्ट स्कूल एवं आईस्टार्ट जिला इनक्यूबेशन कार्यक्रम के संयुक्त तत्वावधान में सोभासरिया ग्रुप ऑफ़ इंस्टीट्यूशंस, सीकर में 'आइडियाथॉन कार्यशाला' का आयोजन किया गया। इस कार्यशाला का उद्देश्य विद्यार्थियों को नवाचार, समस्या-समाधान आधारित सोच और स्टार्टअप संस्कृति से जोड़ना था ताकि वे उद्यमिता के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता की ओर अग्रसर हो सकें। कार्यक्रम के मुख्य वक्ता डॉ. जितेंद्र डी. सोनी (आईस्टार्ट विशेषज्ञ) ने विद्यार्थियों को उद्यमिता की मूल अवधारणाओं से अवगत कराया और बताया कि किस प्रकार युवा सोच को व्यावसायिक अवसरों में बदला जा सकता है। प्रिंसिपल डॉ. एल. सोलंकी ने विद्यार्थियों को संबोधित करते हुए कहा कि आज का युग नवाचार का है और हमें अपने छात्रों को ऐसा मंच प्रदान करना चाहिए जो उन्हें वैश्विक स्तर पर प्रतिस्पर्धा के लिए तैयार करे। सोभासरिया कॉलेज प्राचार्या डॉ. हर्षिता गर्ग ने कार्यशाला को छात्रों के लिए प्रेरणादायक बताया और कहा कि इस तरह की गतिविधियाँ विद्यार्थियों को सोचने, समझने और अपने विचारों को प्रस्तुत करने का मंच प्रदान करती हैं। रजिस्ट्रार प्रदीप शर्मा ने संस्थान की ओर से नवाचार और स्टार्टअप संस्कृति को निरंतर प्रोत्साहित किए जाने की बात कही। आईस्टार्ट सीकर के समन्वयक जयवीर सिंह ने

राजस्थान सरकार की स्टार्टअप नीति व जिला इनक्यूबेशन कार्यक्रम की जानकारी देते हुए बताया कि कैसे यह पहल युवाओं को तकनीकी और व्यवसायिक सहायता उपलब्ध करवा रही है। सोभासरिया स्कूल ऑफ़ लॉ की वाइस प्रिंसिपल डॉ. रुचि शर्मा ने उद्यमिता के कानूनी और सामाजिक पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए छात्रों को जागरूक किया कि एक उद्यमी के लिए नैतिकता, ज़िम्मेदारीऔर कानून की समझ कितनी आवश्यक होती है। इस कार्यक्रम के इवेंट कोऑर्डिनेटर जगदीप कुमार व हेमंत भाटी ने पूरे आयोजन की सफलता सुनिश्चित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने छात्रों को मार्गदर्शन प्रदान करते हुए पूरे कार्यक्रम का संचालन कुशलता से किया। उपस्थित छात्रों ने इस कार्यशाला को अत्यंत उपयोगी, ज्ञानवर्धक और प्रेरणादायक अनुभव बताया।

चूरू की वर्णिका ने फहराया परचम, नेशनल शूटिंग में जीता सिल्वर मेडल

जयपुर टाइम्स

चूरू(निस)। चूरू की बेटी वर्णिका तिवारी पुत्री मुदित तिवारी ने शनिवार को 54वीं केंद्रीय विद्यालय संगठन राष्ट्रीय खेलकूद प्रतियोगिता में फगवाड़ा, पंजाब में हुई शूटिंग स्पर्धा में रजत पदक हासिल किया है। वर्णिका चूरू केंद्रीय विद्यालय में कक्षा 9वीं की विद्यार्थी हैं। जानकारी के अनुसार, पीएमश्री केवी चूरू की वर्णिका और पीएमश्री केवी-3 जयपुर की हिमानी सिंह को 10 मीटर राइफल श्रेणी में पदक हासिल हुआ है। 10 मीटर पीप साइट रायफल (अण्डर-14 गर्ल्स) श्रेणी में पीएम श्री केंद्रीय विद्यालय चूरू की कक्षा 9 की छात्रा वर्णिका तिवारी ने रजत पदक हासिल किया। वहीं 10 मीटर पीप साइट रायफल (अण्डर-17) श्रेणी में पीएम श्री केन्द्रीय विद्यालय क्रमांक-3, जयपुर की कक्षा 11 की छात्रा हिमानी सिंह ने स्वर्ण पदक जीतकर अपने प्रदर्शन से सबका ध्यान आकर्षित किया। दोनों छात्राओं के प्रदर्शन ने जयपुर रीजन को शूटिंग स्पर्धा में चौम्पियनशिप ट्रॉफी दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। प्रतियोगिता में जयपुर रीजन प्रथम, रायपुर द्वितीय एवं चेन्नई रीजन तृतीय स्थान पर रहे। वर्णिका और हिमानी, दोनों का

चयन अब स्कूल गेम्स फेडरेषन ऑफ इंण्डिया की राष्ट्रीय प्रतियोगिता के लिए हो गया है। जिसमें देशभर से चयनित सर्वश्रेष्ठ खिलाड़ी हिस्सा लेंगे। इस मौके पर विद्यालय परिवार, अभिभावकों, शिक्षकों व समस्त क्षेत्रवासियों ने इन प्रतिभाशाली बेटियों को हार्दिक बधाई देते हुए उनके उज्ज्वल भविष्य की कामना की है।

यात्री बच्चों या संदिग्ध लोगो पर भी रखें नजरः डॉ. पंड्या

पोस्टर प्रदर्शनी पर्चे वितरण से किया जागरूक

जयपुर टाइम्स

सीकर(निस)। जिस प्रकार यात्रा के दौरान यात्री अपने साथ लाए समान का ध्यान रखते है, उसी प्रकार थोड़ी सतर्कता अपने आस-पास यात्रा कर रहे अन्य लोग, लावारिस बच्चों या संदिग्ध लोगो की सूचना रेलवे पुलिस, चाइल्ड हेल्प लाइन को कर चाइल्ड ट्रैफ़िकिंग को रोक सकते है। ट्रैफ़िकिंग के इस पूरे रैकेट को ख़त्म कर सुरक्षित समाज के निर्माण के लिए आमजन को भी जागरूक बनकर सहयोग करना होगा। बाल तस्करी जैसी चुनौतियों से निपटने के लिए जागरूकता और

समय पर सूचना बेहद जरूरी है। किसी भी यात्री को यदि कोई बच्चा संदिग्ध स्थिति में दिखे, तो तुरंत चाइल्ड हेल्पलाइन 1098 या रेलवे हेल्पलाइन 139 पर जानकारी दें। उक्त विचार विश्व मानव दुर्व्यापार विरोधी दिवस (30 जुला) के उपलक्ष्य में 15 से 30 जुलाई तक चल रहे विशेष अभियान के तहत शनिवार को सीकर जंक्शन रेलवे स्टेशन पर रेलवे पुलिस, बाल अधिकारिता विभाग और गायत्री सेवा संस्थान की ओर से आयोजित जागरूकता कार्यक्रम में मुख्य वक्ता के रूप में संबोधित करते हुए बाल अधिकार विशेषज्ञ व गायत्री सेवा संस्थान, उदयपुर के निदेशक डॉ. शैलेन्द्र पंड्या ने व्यक्त किए। विद्याश्रम ग्लोबल स्कूल के कृष्ण गोपाल पांडे व अनुराधा पांडे व संगीता शर्मा समस्त स्टाफ छात्र व छात्रों और ने भी अभियान में भाग लिया। बच्चों को रेलवे स्टेशन का भ्रमण कराया गया और उन्हें बाल तस्करी रोकने के उपायों के बारे में अवगत कराया गया। पोस्टर प्रदर्शनी और पर्चे वितरण के माध्यम से यात्रियों को जागरूक किया गया। आरपीएफ सीकर इंचार्ज गोकुल सिंह शेखावत ने यात्रियों से अनुरोध किया कि वे किसी भी संदिग्ध गतिविधि की तुरंत सूचना रेलवे या चाइल्ड हेल्पलाइन को दें। उन्होंने बताया कि यात्रियों की सतर्कता कई बार बच्चों की सुरक्षा में अहम भूमिका निभाती है। कार्यक्रम के दौरान गायत्री सेवा संस्थान के प्रतिनिधि आशिता जैन, अमित राव, जिला परियोजना अधिकारी नरेश कुमार सैनी चाइल्डलाइन टीम के राहुल कुमार, राकेश कुमार और विनीत कुमार भी मौजूद रहे। आयोजन का मुख्य उद्देश्य यात्रियों और नागरिकों में जागरूकता बढ़ाना और बाल तस्करी की रोकथाम के लिए सामूहिक जिम्मेदारी का भाव जगाना था। धन्यवाद गायत्री संस्थान के जिला परियोजना अधिकारी नरेश बेरी ने किया। कार्यक्रम में स्टेशन अधीक्षक रविकांत चोहला, आरपीएफ सीकर इंचार्ज गोकुल सिंह शेखावत, बाल कल्याण समिति अध्यक्ष डॉ. अंकुर बहड़, और लेबर इंस्पेक्टर संजीत चौधरी ने भी विचार प्रकट किए।

स्वात्वाधिकारी, कैम्ब्रिज मल्टीमीडिया प्रा.लि. के लिए प्रकाशक एवं मुद्रक रामेश्वरलाल जाट द्वारा कैम्ब्रिज मल्टीमीडिया प्रा.लि., सी-565 सी, 4 सी स्कीम, न्यू लोहा मंडी रोड, सीकर रोड़ जयपुर में मुद्रित एवं सी-565 सी, 4 सी स्कीम, न्यू लोहा मंडी रोड, सीकर रोड़ जयपुर -302013 से प्रकाशित।
सम्पादक : नीतू चौधरी, सी-588, 4सी स्कीम, न्यू लोहा मण्डी रोड, जयपुर-302013 मो. : 7014217770, E-Mail : jaipurtimes2007@gmail.com *पीआरबी अधिनियम के तहत खबरों के चयन के जिम्मेदार, समस्त विवादों का न्याय क्षेत्र जयपुर।